हिन्दू एकता का प्रतीक—ओंकार

(हिन्दुत्व की अनेकता के मूल कारण का अध्ययन व समाधान प्रस्तुत करने वाली प्रथम कृति)

※

लेखक :
डॉ० चमनलाल गौतम

रचयिता:—ओंकार सिद्धि, ओंकार है शान्ति का द्वार, ओंकार है स्वर्ग का द्वार, ओंकार शक्ति के चमत्कार, उत्तराखण्ड की ओंकार साधना, मन्त्र महाविज्ञान, मन्त्रयोग और वैदिक मन्त्र विद्या आदि।

※

प्रकाशक :
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, वेदनगर,
बरेली-२४३००३ (उ. प्र.)

भूमिका

इतिहास साक्षी है कि जिन जातियो की उपासना पद्धति मे एकरूपता है, उनके जन्म को दो हजार वर्षो से अधिक नही हुए है फिर भी वे सारे ससार मे फैलती चली जा रही हैं। सृष्टि के आदि से चली आ रही, भौतिक व आध्यात्मिक सभी क्षेत्रो मे विश्व का नेतृत्व करने वाली, जगत गुरु के नाम से विख्यात हिन्दु जाति जिसके वेद, उपनिषद् और दर्शन की विशिष्टता अब तक स्वीकार की जाती है, अब निरतर सिमटती चली जा रही है। अपने ही देश मे इसके अल्पसख्यक होने का भय भी उत्पन्न हो गया है। इस भावनात्मक बिखराव के कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं परन्तु उनमे से प्रमुख हैं—बहु देवता वाद के कारण आपसी मतभेद और साम्प्रदायिक विद्वेष, उपासना पद्धति मे विभिन्नता और अलग-अलग उपासना, ग्रहो का निर्माण। जब तक इस मूल कारण को दूर करने का प्रयत्न नही किया जाता, हिन्दुत्व की एकता के स्वप्नो को साकार किया जाना सम्भव नही है। इसके लिए समग्र हिन्दु जाति की उपासना पद्धति मे एक रूपता लाना आवश्यक है। देववाद का अध्ययन करने वाले विद्वान जानते है कि ओंकार ही ऐसा मन्त्र है जो समस्त हिन्दु जाति का प्रतीक है और इससे भावनात्मक एकता की समस्या का समाधान हो सकता है। यदि इसके माध्यम से उपासना ग्रहो मे एकरूपता लाने मे हम सफल हो सके तो समस्त हिन्दु जाति को एक मच पर लाया जाना सम्भव होगा अन्यथा एकता के सभी प्रयत्न अधूरे ही रहेंगे।

—चमनलाल गौतम

विषय-सूची

हिन्दू एकता का प्रतीक—ओंकार

भारत का स्वर्णिम अतीत

विश्व का सर्व प्रथम ग्रन्थ—ऋग्वेद—

भारत का साहित्यिक-सास्कृतिक इतिहास यद्यपि सब मे प्राचीन है, किन्तु वह उपलब्ध नही। क्योकि अधिकाश इतिहास स्मृतियो अर्थात् याददाश्तों पर। उन स्मृतियो का साराश भारत वासियो को—हिन्दुओ की परम्परा से प्राप्त होता रहा है। हमारे प्राचीन ऋषिगण द्रष्टा रूप मे समस्त ज्ञान-विज्ञान से परिचित होते रहते थे—वह सब ज्ञान-विज्ञान महर्षियो और महायोगियों के अन्तर्पटल पर स्वत: उभरता रहता था और वे उस सबका अनुभव अपनी सूक्ष्म अनुभूतियो के रूप मे प्राप्त करते रहते थे। चारो वेद उन्ही अनुभूतियो के अधार पर प्रकट हुए थे।

और यह तथ्य तो पाश्चात्य विद्वानो ने भी स्वीकार कर लिया है कि ऋग्वेद विश्व का सर्वप्रथम ग्रन्थ है, जिसमे ज्ञान-विज्ञान सब कुछ भरा पडा है। ऋगवेद ने ईश्वर के एक होने की घोषणा की थी। जो अन्यत्र कही भी उपलब्ध नही, वह ऋग्वेद मे उपलब्ध है। किन्तु इस युग मे हमारी आँखें पाश्चात्य देशो पर लगी है। हम उस बात को बहुत

शीघ्र सत्य मानते हैं, जो किसी पाश्चात्य विद्वान् ने कही हो। क्योंकि हमें स्वयं पर विश्वास नहीं है। हम अपने ही विद्वानों की और अपने ही ग्रन्थों की बातों को अमान्य कर देते हैं। किस ग्रन्थ में क्या है? हम न तो उसे जानना चाहते हैं, न जानने का अवकाश ही मिलता है हमें।

किन्तु पाश्चात्य विद्वान् केवल सुनी-सुनाई बातों पर ही विश्वास या अविश्वास नहीं कर लेते। उनकी जिज्ञासु-प्रवृत्ति ग्रन्थों के अनुशीलन में और सार-ग्रहण में सदैव अग्रसर रहती है। वे ज्ञान की आकांक्षा होने पर यही देखते हैं कि कहाँ से क्या वस्तु उपलब्ध हो सकती है? इसी दृष्टि से वे कंकड़ों के ढेर से भी हीरों को खोज निकालते हैं।

दर्शन के क्षेत्र में भारत सदैव अग्रणी रहा है–

समस्त ज्ञान-विज्ञान का सूत्रपात भारतवर्ष से ही हुआ है। योग-विद्या, जिसमें सर्वोत्कृष्ट विज्ञान समाविष्ट हैं, भारत से ही तिब्बत में पहुँची और वहीं से समस्त संसार में फैली। हम अपनी विद्याओं को भूलते गये और दूसरे उन्हीं के आधार पर आगे बढ़ते गये और यह दावा करते चले गए कि अमुक विज्ञान के आविष्कारक हम हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद की आदि सभ्यता आठ-दस हजार वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। पर, उनसे यह प्रश्न किया जाना चाहिये कि क्या मानव वंश का आरम्भ ही आठ-दस हजार वर्ष से हुआ है, जबकि विश्व में कहीं-कहीं मानव का अस्थि-पंजर या खोपड़ी आदि अब भी कहीं किसी निर्जन पर्वतीय क्षेत्र में उपलब्ध हो जाता है और उसके सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की सम्मति होती है कि वह लाखों वर्ष पुराना होगा।

हमारे ग्रन्थों में जो काल-प्रमाण मिलता है सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के नाम से। यदि हम उस पर ध्यान दें तो सिद्ध होगा कि यह सृष्टि करोड़ों वर्ष से चली आ रही है और तभी से मानव-वंश और उसकी सभ्यता भी। किन्तु नियमित रूप से इतिहास न रहने के कारण हम उसकी प्राचीनता का सही काल-प्रमाण नहीं कह पाते।

जर्मन-विद्वानो मे शोपनहार का नाम अधिक प्रसिद्ध है। उन्होंने लिखा है कि "वेदरूपी फल की उत्पत्ति मानव-ज्ञान के चरमोत्कर्ष से हुई। योरोप को उन्नीसवी शती से जो उपहार प्राप्त हुए, उन सब मे 'उपनिषद्' श्रेष्ठ हैं, जिनके अध्ययन से इस जीवन मे भी और मरने पर भी शान्ति प्राप्त होती है।' प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर ने हमारे वेदान्त को ही सर्वश्रेष्ठ दर्शन माना है।

भारतीय षड्-दर्शन प्रसिद्ध हैं—योग, न्याय, सांख्य, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा। इनके विषय मे सभी देशो के विद्वानो का यही मत रहा है कि यह सब अपनी-अपनी विशेषता से पूर्ण हैं। पाश्चात्य विद्वान् डेविस ने सांख्य दर्शन के विषय मे कहा है कि "यह दर्शन पृथिवी का सबसे पहला दर्शन है, जिसमे कपिल ने मैं कौन हूं ? मेरा क्या भविष्य है तथा पृथिवी पर सर्गोत्पत्ति किस प्रकार हुई ? ऐसे गहन प्रश्नो का केवल युक्ति से ही उत्तर देने का प्रयत्न किया है, जो कि ससार मे सबसे पहिला प्रयत्न है।" वस्तुतः इस दर्शन का आरम्भ ही आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनो प्रकार के दु.खो की निवृत्ति के साधनभूत 'मोक्ष' से हुआ है।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनीक डॉ० कुंजे ने भारतीय दर्शनो के विषय में अपना स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि "भारतीय दर्शन ऐसे महान सत्य से सम्पन्न है, जिसे पाश्चात्य विद्वान् कठिन गवेषणा करने पर ही कुछ समझ पाये हैं। किन्तु यह निश्चित है कि इस दर्शन से अधिक अन्वेषण की शक्ति पाश्चात्य विद्वानो मे नहीं है। इसलिये भारतीय दर्शन के समक्ष हम नत मस्तक हैं। हम इस तथ्य को स्वीकार करने को बाध्य है कि सर्वश्रेष्ठ दर्शन शास्त्र की उत्पत्ति मनुष्य जाति के शैशव क्षेत्र पूर्वीय प्रदेश (भारत) मे ही हुई है।"

समस्त कलाओं का उद्गम स्थान भारत वर्ष—

इसका अभिप्राय है कि मानव जाति की उत्पत्ति और शैशव काल का क्षेत्र तो भारत ही है, उससे आगे मनुष्य जितना विकसित होता गया, उतना ही भारतीय विद्याओं का भी प्रचार-प्रसार होता रहा। न्याय शास्त्र की जो रचना महर्षि गौतम द्वारा भारत में हुई, बाद में ग्रीक लोगों ने उसका अधिक विकास किया। इसका प्रमाण यह है कि उनमें जो निगमन प्रथा है, वह न्याय शास्त्र से एकदम मेल खाती है।

चिकित्सा शास्त्र को लीजिये—यह सर्व प्रथम भारत में ही रचा गया। आधुनिक वैज्ञानिक अभी इस परीक्षण में ही लगे हैं कि मनुष्य की आयु कैसे बढ़ाई जाय ? कैसे उसे मृत्यु से बचाया जाय ? और जब, अभी यही प्रश्न उलझा हुआ पड़ा है, तब मरे हुए मनुष्य को पुनर्जीवित करना तो अभी न जाने कितनी दूर की बात होगी ? यह सब भविष्य के ही गर्भ में है।

किन्तु भारत में इस सबकी खोज न जाने कब हो गई ? हमारा मंत्र-शास्त्र उस समय इतना विकसित था कि उसके बल पर मनुष्य को स्वस्थ रखा जा सकता था, रोगी के रोग की निवृत्ति की जा सकती थी, उसकी आयु बढ़ाई जा सकती थी और मुर्दे में भी प्राण फूँके जा सकते थे। जरा यजुर्वेद को उठा कर देखिये—उसमें ऐसे-ऐसे मंत्र मिलेंगे, जिनकी सिद्धि होने पर मरे हुए मनुष्य को पुनः जीवित किया जाना सम्भव है। यह विज्ञान भी भारत से ही आरम्भ हुआ था, जिसके द्वारा मरे हुए शरीर को हजारों वर्षों तक सुरक्षित रखा जा सकता है। यजुर्वेद के ही एक मंत्र (२।३५।६) का अवलोकन कीजिये—

> प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसौ।
> अप न शोशुचदघम ॥

"हे अमुक मृतक ! तुम्हे जल के निकटवर्ती स्थान मे प्रजापति की सन्निधि (अथवा स्मृति) मे स्थापित करता हूँ। वे प्रजापति देव हमारे पापो को नितान्त दूर करें।"

आयुर्वेद मे चीर-फाड के उद्देश्य से एक सौ सत्ताईस प्रकार के यत्रों का वर्णन उपलब्ध है, जिसका अर्थ है कि समस्त सर्जरी का आदि-स्रोत भी भारत ही है। हमारे आयुर्वेद के चमत्कारी प्रयोगो को पाश्चात्य चिकित्साशास्त्री भी अनुपम मानते रहे हैं। जो कार्य आधुनिक चिकित्सा विज्ञान आज तक करने में समर्थ न हुआ, वह भारतीय चिकित्सक बहुत पहिले किया करते थे। इस विषय मे डॉ० रायली का मत है कि "वस्तुत. यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि प्राचीन (भारतीय) चिकित्सक गुर्दे की पथरी को काट-काट कर ही निकाल देते थे। स्त्री के मृत गर्भ को भी यन्त्रो की सहायता से सहज ही बाहर निकाल लेते थे।"

ज्योतिष के सूक्ष्म तत्वो का ज्ञान तो ऋग्वेद से ही हो जाता है, जिसके १, २५, ८ मे स्पष्ट लिखा है कि "वे धृतव्रती वरुण प्रजाओ के लिये उपयोगी बारह मासो और तेरहवें अधिक मास को भी जानते हैं" इसी प्रकार ऋतुओ के नाम का, चन्द्रमा की स्थिति का और कुछ नक्षत्रो और उनसे सम्बन्धित राशियो का उल्लेख भी उसमे मिलता है। सूर्य से सम्बन्धित तो पूरा विज्ञान ही ऋग्वेद मे भरा पडा है। किन्तु वह वर्णन सूत्रात्मक है, विस्तृत वर्णन सम्बन्धी अनेक ज्योतिष ग्रन्थो की रचना वेदो के बाद ही हुई, जिसमे भारतीय ज्योतिष को ही सबसे प्राचीन होने का गौरव प्राप्त है।

उपनिषदो मे भी कही-कही ज्योतिष की चर्चा हुई है। पुराणो में भी ज्योतिष का वर्णन देखा जा सकता है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि पुराण तो बहुत बाद मे रचे गये हैं, तो ब्राह्मण ग्रन्थों को देखें—शतपथ ब्राह्मण मे ही चन्द्रमा और नक्षत्रो सम्बन्धी विवरण मिलता है।

तैत्तरीय उपनिषद् में भी 'अधि ज्योतिषं' कह कर ज्योतिष विद्या का संकेत हुआ है।

एक प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान कोलब्रुक ने हिन्दुओं को ज्योतिष शास्त्र में अधिक प्रवीण और प्राचीनतम मानते हुए कहा है कि "हिन्दुओं ने चन्द्रमा और सूर्य की गति को सूक्ष्म रूप से जान लिया। यूनानियों की अपेक्षा उनका ग्रह-ज्ञान और गणित बहुत शुद्ध है।" इससे उन लोगों का यह अनुमान कि ज्योतिष में यूनानी विद्वान् अधिक बढ़े चढ़े हैं, मिथ्या सिद्ध हो जाता है।

वर्तमान समय में लोग वास्तु कला में योरोप को अधिक उन्नतशील मानते हैं, जबकि योरोप वासी विद्वान् भारत की वास्तु कला की ही मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं।

वस्तुतः भारत की अजन्ता, एलोरा प्रभृति प्रसिद्ध गुफाएँ, साँची के बौद्ध स्तूप और मन्दिर आदि देशी-विदेशी लोगों, विशेषकर कला प्रेमियों के लिये अधिक आकर्षण के केन्द्र रहे हैं। यहाँ की वास्तु कला के विषय में प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ० फर्ग्युसन का कथन है कि "जब हम तिरहुत के जंगलों में और बुद्ध गया में हिन्दुओं के पाषाण पर नक्काशी के कार्यों को देखते हैं तो यह पाते हैं कि ईसा के दो-ढाई सौ वर्ष पहिले तक उन पर कोई विदेशी प्रभाव नहीं था। उन पर जो मूर्तियाँ चित्रित हुई, उनके भावों से उनमें निहित कथानक की जानकारी स्पष्ट रूप से हो जाती है। उनमें हाथी, हिरण, बन्दर आदि के चित्रण तो इतने अद्भुत है कि अन्य किसी देश में उपलब्ध नहीं होते। मानव-मूर्तियाँ आधुनिक सौंदर्य से भिन्न होती हुई भी अत्यन्त स्वाभाविक हैं। रामेश्वर मन्दिर, जो कि सात सौ फीट की ऊँचाई तक नक्काशी से युक्त है, उसका वर्णन किया जाना कठिन है। हमारा कोई भी गिर्जा पाँच सौ फीट से अधिक की ऊँचाई का नहीं मिलता। सेंटपीटर्स के गिर्जाघर का

द्वार से उपासना स्थल तक का भाग भी छः सौ फीट तक ही ऊँचा रह जाता है।"

धातु के यन्त्रो, स्तूपों आदि के निर्माण की कला भी हमारे यहाँ समुन्नत रही है। दिल्ली मे ही एक ऐसा लौह-स्तम्भ है, जो ईसा की पाँचवी शती मे निर्मित हुआ था। उसके सम्बन्ध मे डॉ० फर्ग्यूसन की मान्यता है कि 'हिन्दू लोग उस समय इतना बडा लौह-स्तम्भ बना सके, यह आँखें खोल देने वाली बात है। इस प्रकार के स्तम्भों का योरोप में तो अठारहवी शती से पूर्व बनना ही सम्भव नही था। अब भी इसकी सभावना कम ही है।"

विदेशियो की ही यह मान्यताएं इस बात के प्रमाण मे पर्याप्त हैं कि भारतवर्ष मे पाषाण और लोहे की वस्तुओ का निर्माण उच्चकोटि का होता था। यहाँ की मूर्ति कला भी देश-विदेशो मे प्रसिद्ध रही हैं। पत्थर, स्वर्ण, चाँदी तथा अन्य धातुओं की तथा स्फटिक मणि आदि की प्रतिमाएं जैसी यहाँ बनती रही, वैसी अन्यत्र नही बनी।

काव्य, संगीत में उच्चतम विकास—

काव्य-रचना के श्रीगणेश मे भी भारत ही अग्रगण्य रहा है। सस्कृत और हिन्दी मे जितने बडे-बडे काव्य लिखे गये, उतने अन्य देशो मे शायद ही लिखे गये हो। काव्य का तात्पर्य पद्य-रचना से है जो छन्दो-बद्ध होती है, और वेदों से छन्द-रचना के दर्शन होने लगते हैं। उन सब मे अनेक छन्दो का प्रयोग हुआ है, जिनके गायत्री, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती, वृहती, पक्ति आदि नाम प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार काव्य-रचना का आरम्भ तो वेदो से हो जाता है, किन्तु सस्कृत का आदि महाकाव्य 'वाल्मीकि रामायण' माना जाता है। उसी महाकाव्य के द्वारा संसार मे राम-कथा का इतना अधिक प्रचार-प्रसार हुआ कि विदेशो मे भी श्रीराम और हनुमान के मदिरो की स्थापना हुई

और कहीं-कहीं तो रामलीला भी होने लगी, जिसमें काव्य और संगीत दोनों का प्रयोग किसी न किसी रूप में हुआ।

किन्तु संगीत का आदि ग्रन्थ तो सामवेद ही है। उसका गायक जब साम-गान करता है, तब वहाँ का समूचा वातावरण उसी के आनन्द में निमग्न हो जाता है। यद्यपि साम-गायकों की वर्तमान समय में कमी हो गई है, फिर भी अभी कुछ विद्वान् साम-गायक हमारे देश में विद्यमान हैं।

इस प्रकार काव्य और संगीत में भी भारतवर्ष ही सबसे प्राचीन ठरहता है। संगीत के सात स्वर—स, रे, ग, म, प, ध, नि सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, जिनकी उत्पत्ति प्राचीन काल में ही यहाँ हो चुकी थी।

उन सात स्वरों के साथ विभिन्न रागों और उनमें गाने का विज्ञान ईसा से बहुत पहिले हो चुका था। पाँच हजार वर्ष पहिले के महाभारत काल में भी संगीत का महत्व अधिक था और संगीतज्ञों को राज दरबारों में ससम्मान स्थान दिया जाता था। यही नहीं, कवियों और संगीतज्ञों को उच्च स्थान के सहित राजाश्रय प्राप्त होता था।

भारत वर्ष में आरम्भ हुआ संगीत ही विश्व में विस्तार को प्राप्त हुआ। पड़ोसी देशों में गान-विद्या यहीं से गई। भारत से फारस में पहुँचा हुआ संगीत वहीं से अरब आदि देशों में पहुँचा और तब कहीं योरोप के विभिन्न देशों में। यद्यपि उन-उन देशों को अपने-अपने ढंग पर संगीत के विकास का श्रेय हो सकता है, पर वे देश संगीत की उत्पत्ति का श्रेय नहीं ले सकते।

इस प्रकार काव्य और संगीत दोनों का जनक हमारा यह भारत देश ही है। सामवेद-काल से अब तक संगीत का विकास हमारे देश में भी किसी प्रकार कम नहीं हुआ है। समयानुसार उनकी गायकी में परिवर्तन भी होते रहे हैं, जिनके द्वारा संगीत के प्रति लोगों का आकर्षण

भी बढा है। हिन्दुओ की संगीत विद्या भी जन-जन मे प्राण फूँकने मे समर्थ है। इसके द्वारा रोगो का भी उपचार होता रहा है, बुझे हुए दीपक जलते रहे हैं दीपक राग से और मेघराग से वर्षा होती रही है। आज से पाँच हजार वर्ष पहिले श्रीकृष्ण के वशी-वादन से समस्त प्राणी ही विमोहित और स्तब्ध हो जाते थे। वर्तमान मे चाहे यह कला इस रूप मे दिखाई न दे, तो भी हम देखते हैं कि भारतीय संगीत अपने सर्वोच्च शिखर पर है, उस पर पाश्चात्य संगीत का कितना ही अधिक प्रभाव क्यो न पडा हो, किन्तु अब भी वह अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाये हुए है।

वस्त्राभूषणादि के द्वारा साज-सज्जा का आरम्भ भी इसी देश से हुआ और विभिन्न देशो मे उसे अपने-अपने ढँग पर ढाला गया। स्त्रियो में साडी पहिनने की प्रथा हमारे देश की अपनी प्रथा है, जिसके लिये अन्य देशो की स्त्रियाँ लालायित होती रही हैं। लहँगा, ओढनी, कंचुकी आदि सभी आकर्षण का विषय रहो है, जिनमे समयानुसार रूप-परिवर्तन भी होता रहा है।

कशीदाकारी और छपाई भी यहाँ की प्राचीन कला रही है। प्राचीन काल मे वैभवशाली लोग, स्त्री, पुरुष आदि सभी जरी के कपडे पहिनते थे। राजा लोगो के तो सभी परिधान रत्न-मणि खचित एव स्वर्ण के तारो से सुसज्जित होते थे। अल्प धन वालो मे भी अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार जरी आदि से सुसज्जित वस्त्र धारण किये जाते थे। विशेष-कर बालको और स्त्रियो को तो ऐसे ही वस्त्र प्रिय थे।

किन्तु जो लोग अधिक गरीब होते वे छपे और रगे वस्त्र धारण करते थे। यहाँ के छपे वस्त्र आज भी अपनी धाक बनाये हुए हैं। जयपुर, मथुरा, बम्बई, अहमदाबाद आदि अनेक स्थानो मे छपाई के बडे-छोटे कारखाने अधिक संख्या मे लगे हैं, जिनका छपा हुआ माल विभिन्न देशो को निर्यात किया जाता है।

भारत का पाक शास्त्र भी अपने ढंग का अनूठा रहा है। यहाँ जैसा भोजन बनता है, उसके लिये क्या विदेशी लोग कम लालायित रहते हैं? अभी किसी साप्ताहिक में पढ़ा था कि इंगलैंड में—शायद लन्दन में किसी भारतीय की दुकान के रसगुल्ले इतने प्रसिद्ध हैं कि उसके रसगुल्लों का भरा हुआ पूरा कढ़ाव कुछ घंटों में ही ऊँचे दामों में बिक कर समाप्त हो जाता है। बस, इतने से ही भारतीय पाक-कला की लोकप्रियता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत-भारत

सर्व समर्थ-भारत

भारतवर्ष कुछ कम ऐश्वर्य शाली नहीं रहा। इस देश में विदेशियों ने जितनी खुली लूट की, उसका अनुमान लगाना भी कठिन है। दुर्गों और मन्दिरों में इतना अधिक सोना-चाँदी और मणि-मुक्ता था कि अन्य देशों ने शायद ही उतने वैभव के दर्शन कभी किये हों।

यहाँ सोने-चाँदी की खानें हैं, ताँबे, लोहे, शीशे, राँगे तथा अन्यान्य धातुओं की मात्रा भी इस देश की धरती में कम नहीं हैं। हीरा, पन्ना, नीलम, पुखराज आदि भी पर्याप्त मात्रा में यहाँ विद्यमान हैं। संसार के एक आश्चर्य के रूप में प्रसिद्ध है कोहेनूर, वह भारत से ही विदेश गया है। यहाँ के समुद्र मोतियों से सम्पन्न हैं और चन्दन जैसे अत्यन्त मनोमोहक सुगन्ध वाले वृक्षों की उत्पत्ति भी यहाँ होती है। भारत के भूभाग काश्मीर में केसर की भी खेती होती है।

युद्ध कौशल मे भी हमारा देश अग्रणी रहा है। यहाँ प्राचीन शस्त्र विद्या की समता आधुनिक शस्त्र विद्या शायद ही कर सके। उस समय के बाणों मे ही वह सामर्थ्य थी जो आज के बाणो मे भी सम्भव नही। उन बाणों का प्रयोग युद्ध में भी होता था और अपराधियों को दण्ड देने मे भी। उनके द्वारा अनेक वस्तुएँ इधर से उधर पहुँचाई जा सकती थीं। आप ध्यान करें, रामायण का वह प्रसग जब हनुमान सजीवनी बूटी लिये अयोध्या नगरी के आकाश मार्ग से आ रहे थे, भरत ने कोई राक्षस समझकर उन्हें बाण मार कर नीचे गिरा दिया। फिर जब पता चला उन्हें कि यह तो रामदूत हैं, सजीवनी लिये जा रहे है लक्ष्मण के प्राण बचाने के लिये तो अत्यन्त खेद व्यक्त करने के पश्चात् कहते हैं कि 'पवनपुत्र ! तुम मेरे इस बाण पर बैठ जाओ, मैं अभी क्षणभर मे तुम्हें श्रीराम के पास पहुँचाये देता हूँ।' हनुमान ने आश्वासन दिया कि मैं स्वयं ही समय पर पहुँच जाऊँगा और वे वहाँ से चले गये। पर भारत की उक्ति मे यह तो प्रमाणित होता ही है कि बाण का प्रयोग यातायात के लिये भी हो सकता था।

बाणों की महती शक्ति—

महाभारत कालीन बाणो मे भी वह शक्ति थी कि वे रथी, सारथी और अश्वो से युक्त रथ को भी पीछे हटा सकते थे। अर्जुन और कर्ण द्वारा परस्पर बाणों के संघर्ष मे यही हुआ था। रामायण काल के शस्त्रास्त्र अनेक प्रकार की माया भी कर सकते थे और माया को नष्ट भी कर सकते थे। महाभारत काल के शस्त्रास्त्रो में भी वैसी शक्ति विद्यमान थी। रामायण काल मे सेतुबन्ध का निर्माण एक अद्‌भुत कार्य था। समुद्र पर पुल बनाना आधुनिक वैज्ञानिको के वश की बात नहीं।

इस प्रकार हिन्दुओं की रण कुशलता और क्षमता सभी देशों से सभी जातियो से बढ़ी-चढ़ी थी। न हम ऐश्वर्य में किसी प्रकार से कम

थे, न व्यापार-व्यवसाय में ही। विभिन्न प्रकार के यान्त्रिक एवं विद्युतीय आविष्कार (इंजीनियरिंग) आदि में भी हम किसी प्रकार से कम नहीं रहे। वरन् हमारी यह विशेषता रही कि हमारी समस्त भौतिक आवश्यताओं की पूर्ति आध्यात्मिकता के साथ होती थी। हमारा प्रत्येक व्यवहार धर्म के साथ जुड़ा था, मन्त्र शक्ति का अधिक सहारा लिया जाता था। आज भी उच्च धार्मिक घरानों में धर्म-कर्म, व्रत-उपवास एवं श्रेष्ठ आचरण को ही प्रशंसित माना जाता है और किसी न किसी रूप में उन पुरानी प्रथाओं का पालन किया जाता है। यह बात भिन्न है कि अनेक प्रथाओं के रूप बदल गये और अनेक परम्पराएँ आधुनिक प्रभाव के कारण समाप्त प्राय: हो गईं।

सात्विक आचरण–

युद्ध कला में पारंगत होते हुए भी हम सदा शान्ति-प्रिय रहे हैं। अपनी ओर से हमने कभी ऐसी चेष्टा नहीं की कि किसी से अकारण ही झंझट किया जाय। हमारी प्रवृत्ति अधिकांशत: सात्विक रही और जहाँ तक सम्भव हुआ सत्य के पालन में सदैव तत्पर रहे। मेगस्थनीज ने हमारे आचरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "हिन्दू लोग सदा शान्ति-प्रिय और दृढ़ विचार के तथा श्रेष्ठ खेती करने वाले हैं। यह विलास से दूर रहने और सत्य बोलने में प्रसिद्ध रहे हैं। न्यायप्रिय होने के कारण यह न कभी किसी न्यायालय में जाते हैं, न झूठ बोलते हैं। चोरी करना तो जानते ही नहीं, इसलिये रात को घर के द्वार भी बन्द नहीं करते। कभी किसी हिन्दू ने मिथ्या भाषण नहीं किया। इस कारण अपने हक-हकूकों को लिखते नहीं।"

मेगस्थनीज के उक्त भाव हिन्दुओं के सात्विक आचरण को पूर्ण रूप से व्यक्त करते हैं। उनका यह भी कहना है कि "सैनिक युद्ध के अवसर पर भी कभी खेती और बस्तियों को क्षति नहीं पहुँचाते। दास प्रथा का

इनमे अभाव है। लोग उर्वरा धरती को प्राय: नहरो के पानी मे सींचते हैं, इसलिये यहाँ कभी अकाल पडने की नौबत नहीं आती।"

इसका तात्पर्य है कि हिन्दुओ मे रजोगुण की कमी और तमोगुण का तो अभाव ही रहा है। विलास-प्रियता और उच्छृ खलता को हमने कभी पसन्द नही किया। पुरुषो मे सदाचार था तो स्त्रियो मे भी उसका होना स्वाभाविक है। भारतीय नारी का पतिव्रत-धर्म सदा ही प्रशंसित और प्रसिद्ध रहा है। यहाँ की भूमि इस रूप मे सीता और सावित्री की भूमि कही जाती रही है। मेगस्थनीज ने भी स्पष्ट रूप से लिखा है कि "हिन्दुओ की स्त्रियाँ पतिव्रता हैं।" भारतीय नारी का यह आचरण योरोप की नारी के लिये आश्चर्य का विषय रहा है। वे सोचती हैं कि एक ही व्यक्ति के साथ पूरा जीवन व्यतीत करना निश्चय ही अद्भुत है।

ईसा की चौथी शती मे जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान यहाँ आया था, तब वह इस देश की जल-वायु, शासन-प्रबध, राज-दण्ड, लोगों के आहार विहार आदि को देख कर बड़ा प्रभावित हुआ। उसने मध्य भारत की उस समय की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "इस देश का जल-वायु गर्म और सदा एक जैसा रहने वाला है। यहाँ पाला या बर्फ नही पडती। यहाँ के लोगो की स्थिति अच्छी है। उन पर कोई राज-कर नही है, न कोई रुकावट ही है। राजा की धरती जोतने वालो का उपज का कुछ अ श मात्र देना होता है। राजा प्राय: शारीरिक दण्ड न देकर न्यून या अधिक अर्थ दण्ड देता है, किन्तु राज-द्रोह करने पर एक हाथ काटने का दण्ड दिया जाता है। सैनिको को निश्चित वेतन मिलता है। पूरे देश मे, चाण्डालों के अतिरिक्त, अन्य कोई व्यक्ति लहसुन और प्याज तक नही खाता। कोई भी व्यक्ति न जीव-हिंसा करता है, न मदिरा-पान, बाजार मे कही मदिरा बिकती भी नही।"

ईसवी सन् छः सौ उन्तीस में ह्वेनसांग नामक अन्य चीनी यात्री यहाँ आया। उसने भी भारतवासियों को सीधे, सरल, उत्साही, वीर तथा पुण्यात्मा कहा है। उसने यहाँ के विभिन्न प्रदेश में विभिन्न वस्तुओं की प्रचुरता होने की चर्चा करते हुए अन्न, फल सोना, चाँदी तथा रत्नादि की अधिकता बताई थी। यह यात्री पूरे भारत में घूमा था। कन्नौज में उस समय राजा शिलादित्य द्वितीय का राज्य था। ह्वेनसांग उस राजा का अतिथि भी रहा। उसने वर्णन किया है कि "इस शूरवीर राजा के पास पाँच सहस्र हाथी, बीस सहस्र सवार और पचास सहस्र पल्टन के रूप में स्थायी सैना रहती है।"

उन दिनों राजा ने एक बड़ी धार्मिक सभा का आयोजन किया था, जिसमें बीस देशों के राजागण और वहाँ के विद्वान् ब्राह्मण तथा बौद्ध भिक्षु आदि सम्मिलित हुए थे। ह्वेनसांग ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है—"संघाराम से राजभवन पर्यन्त समस्त स्थान शिविरों और गायकों के खेमों से सुशोभित था। एक अत्यन्त सुसज्जित हाथी पर बुद्ध की प्रतिमा रहती तथा इन्द्र के समान राजा शिलादित्य और उसके बाँयी ओर काम रूप का राजा पाँच-पाँच सौ रणकुशल हाथियों की रक्षा में चलते थे। राजा शिलादित्य अपने सब ओर मोती, रत्न तथा सोने-चाँदी के पुष्प फेंकता चलता था।"

ह्वेनसांग ने सम्पूर्ण भारत वर्ष की यात्रा की और सभी प्रदेशों और खण्डों के विषय में अपने विचार लिखे थे। उन सब की चर्चा करना तो सम्भव नहीं है। फिर भी उसने समग्र दृष्टि से अन्त में जो कुछ लिखा है उसका सारांश यहाँ दिया जाता है—

"उपकारक सिद्धान्त वाली राज्य-प्रणाली होने के कारण शासन-प्रणाली भी बहुत सरल है। राज्य चार मुख्य विभागों में विभाजित है, जिसमें से एक राज-प्रबन्ध और यज्ञादि की व्यवस्था के लिये, दूसरा अमात्यों और मुख्य राज्य-कर्मचारियों की आर्थिक सहायता के लिये,

तीसरा योग्य व्यक्तियो को पुरस्कारो से सम्मानित करने के लिये तथा चौथा धार्मिको को दान के लिये है। लोगो से कर बहुत न्यून तथा शारीरिक सेवा भी अल्प ली जाती है। सभी अपनी सम्पत्ति को निश्चिन्त रहते हुए शान्ति के साथ रखते और निर्वाह के लिये खेती करते है। राजा की धरती जोतने वाले उपज का छठा भाग देते है। कार्य के अनुसार श्रमिकों को पारिश्रमिक दिया जाता है सैनिक सीमा की रक्षा करते और उपद्रवो को दबाते है तथा रात मे घुड सवार पहरा देते है। शासको, मन्त्रियो आदि को निर्वाहार्थ भूमि दी जाती है। सभी लोग सच्चे होते है, आर्थिक मामलो मे कपट कोई नही करता। क्योंकि दूसरे जन्म मे अपने कर्म-फल पर विश्वास करते है। इसलिये धन, धरती आदि सभी को तुच्छ समझते है।"

इन कथनो से भारतवर्ष के ऐश्वर्य, न्याय, राज-दण्ड, राजा-प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध, हिन्दुओं की सत्य, अहिंसा मे अभिरुचि एव आहार-विहार आदि के विषय मे पर्याप्त प्रकाश पडता है, जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि हिन्दू जहाँ सत्यव्रती और न्याय-प्रिय रहे है, वैसे ही रण-कुशल और शक्तिशाली भी रहे हैं। किन्तु आततायियो और विधर्मियो ने यहाँ अनेक प्रकार से लूट की और अनाचार फैलाया तथा अपने दमन चक्र से सभी का उत्पीडन किया। सैकड़ो वर्ष की दासता ने हिन्दू-धर्म पर, संस्कृति पर गहरी चोट की, इसी कारण हम अपने स्वाभाविक बल-वैभव को उत्तरोत्तर भूलते चले गये। आज हमे यह भी पता नही कि वेदो मे क्या लिखा है और जो लिखा है उसका तात्पर्य क्या है? कुछ लोग उनकी ऋचाओ, मन्त्रो आदि के अर्थों मे तोड-मरोड करके भोले-भाले पाठको को भ्रमित करने से भी नही चूकते। इसका प्रभाव भी कुछ अच्छा नही पड रहा है जन-मानस पर।

हिन्दू धर्म को मूल-प्रस्थान त्रयी–

वस्तुत: वेद ही हिन्दू धर्म के मूल स्रोत हैं। जिन्होने वेदार्थ को ठीक

प्रकार से समझा, वस्तुतः पण्डित और ज्ञानी कहलाने के अधिकारी वही है। हमें अपने धर्म का, अपनी संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करना है तो वेदों को ठीक प्रकार से समझना होगा। किन्तु वेदों के पढ़ने और समझने के लिये आवश्यक है उपनिषदों को पढ़ना-समझना। क्योंकि जैसे भाषा ज्ञान के लिये व्यंजनों से पहिले स्वर-ज्ञान आवश्यक है। यदि स्वर-ज्ञान न हो तो मात्र व्यंजनों से ही कोई वाक्य बनाया जाना संभव नहीं है। यही स्थिति उपनिषदों और वेदों के मध्य समझनी चाहिये।

अध्यात्म-मार्ग की यात्रा के लिये तीन सम्बल आवश्यक हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इसके प्रयोजनार्थ तीन प्रकार के शास्त्रों का निर्माण किया गया—उपनिषद्, वेदान्त और गीता इन तीन को ही 'प्रस्थान त्रयी' कहते हैं। उपनिषदों से श्रवण का उद्देश्य पूरा होता है तो वेदान्त से मनन का और गीता से निदिध्यासन का। हमारी हिन्दू संस्कृति के यह तीनों ही अंग अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं. जो हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं रहे। क्योंकि इनमें व्यापक दृष्टिकोण रहा है। इन्होंने कभी किसी वर्ग विशेष, जाति विशेष या सम्प्रदाय विशेष को ही दृष्टि में नहीं रखा। इनका उद्देश्य तो मानव मात्र का कल्याण रहा है।

फिर, मानव मात्र तक ही नहीं, प्राणी मात्र के लिये तत्पर रही है यह प्रस्थान त्रयी। इसने मनुष्यों को निर्देश दिया है कि अपने तक ही सीमित न रहो, वरन् वही करो जिसमें जीव मात्र का हित निहित हो, जिस कर्म से जीव मात्र उपकृत हो सके। क्योंकि आत्मा केवल मनुष्य में ही तो है नहीं। सभी प्राणियों में—सभी देह धारियों में है। यह चौरासी लाख योनियों का फन्दा सभी के साथ कर्मानुसार लगा है, न जाने कौन कब किस योनि का भोग-भागी हो जाय, इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि निकृष्ट से निकृष्ट योनि वाले जीव के प्रति भी दया-भाव रहे, अपने शरीर और मन से किसी को कष्ट न पहुँचे। प्रस्थान त्रयी की भावना ही 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' मानने की है, इसीलिये हमारे लिये यह

यह गौरव की बात है कि प्रस्थान त्रयी को विभिन्न धर्मियो ने, भी आत्म-कल्याण के लिये अद्भुत माना है। मुसलमानो, अग्रेजो तथा अन्यान्य विज्ञजनो ने भी इनसे लाभ उठाया और इसके आनन्द मे निमग्न रहे है।

बादशाह औरंगजेब के नाम से सभी परिचित हैं। उसके बड़े भाई थे दाराशिकोह, उन्हें उपनिषद्-ज्ञान की महिमा का पता चला तो विद्वान् पण्डितो द्वारा उन्हे सुना और फिर उनका मर्म समझने के लिये उन्होने स० १६५७ से १६७४ पर्यंत अर्थात् सत्रह वर्ष तक सस्कृत पढी और साथ ही फारसी भाषा मे उपनिपदो का अनुमान,भी किया। उन्होने अपने फारसी अनुवाद की भूमिका में लिखा कि "मैंने आत्म विद्या के बहुत-से ग्रन्थ पढे, किन्तु ईश्वर की खोज की प्यास किसी से न बुझी। हृदय मे ऐसी बहुत-सी शकाएँ और समस्याएँ उठती रहती, जिनका समाधान ईश्वरीय ज्ञान के सिवाय अन्य किसी प्रकार न हो सकता था। मैंने कुरान, तौरेत, इंजील, जबूर आदि बहुत-से ग्रन्थ पढे, उनमे परमात्मा से सम्बन्धित जो वर्णन मिला, उससे मन की प्यास न बुझ सकी। तब हिन्दुओ की पुस्तके पढी, जिनमे उपनिपदो का ऐसा ज्ञान है, जिसमे आत्मा को शाश्वत शान्ति और सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है। हजरत नबी ने भी एक आयत मे इन्ही प्राचीन रहस्यमय ग्रन्थो के विषय मे सकेत किया है।"

दाराशिकोह उपनिषद्-ज्ञान के आनन्द मे सदा निमग्न रहते थे। सभी को उनके चेहरे पर सुख-शान्ति देख कर आश्चर्य होता था। एक दिन बादशाह औरगजेब की पुत्री जेबुन्निसा ने अपने चाचा दाराशिकोह को अनोखी मस्ती मे झूमते देखा तो पूछे बिना न रह सकी। बोली—"आप को इस अद्भुत मस्ती का कारण क्या है?" दाराशिकोह ने कहा—"बेटी! यह मस्ती उपनिपदो के ज्ञान से प्राप्त हुई है।" उसने आग्रह

किया—"चचा ! मुझे भी सुनाइये वह ज्ञान।" दाराशिकोह ने उसे उपनिषद् सुनाये तो वह भी उस ज्ञान से बहुत ही प्रभावित हुई।

ऐसे पाश्चात्य विद्वान् तो अनेक हुए हैं, जिनकी दृष्टि में उपनिषद् के समान ईश्वरीय ज्ञान से सम्पन्न अन्य कोई ग्रन्थ ही नहीं है। श्रीह्यूम ने अपनी 'डॉगमैस ऑफ बुधिज्म' में स्पष्ट लिखा है कि "सुकरात, अरस्तू, अफलातून आदि अनेकों दार्शनिकों के ग्रन्थ बहुत ध्यान से मैंने पढ़े हैं, किन्तु उपनिषदों में जैसी शान्तिमयी आत्म विद्या मिली, वैसे और कहीं देखने में नहीं आई।"

स्वीडन के प्रो० पॉल ड्यूसन ने लिखा है कि "उपनिषदें मनुष्य की महती बुद्धि के अमूल्य फल हैं। जीवन-मृत्यु और सुख-दुःख की प्रत्येक स्थिति में इनके द्वारा हर घड़ी ऐसी शान्ति मिलती है, जैसी अन्य कहीं नहीं मिल सकती। यह आत्म ज्ञान एवं आत्म शान्ति का ऐसा कोष है, जिसके समान अन्य कोई दिखाई नहीं देता। मैं भारत की यात्रा पर गया तब वहाँ बहुत कुछ पाया। उसमें जो सबसे अधिक विभूतियाँ उपलब्ध हुईं, वे थीं ऋषियों के दिव्य ज्ञान से ओत प्रोत संस्कृत भाषा में लिखी उपनिषदें।"

प्रो. जी आर्क ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—"मनुष्य की मानसिक, आत्मिक एव सामाजिक गुत्थियाँ कैसे सुलझ सकती हैं, इसकी जानकारी उपनिषदों से ही सम्भव है। यह शिक्षा इतनी सत्य, शिव और सुन्दर है कि उसका प्रवेश अन्तरात्मा की गहराई तक हो जाता है। जब मनुष्य सांसारिक दुःखों और चिन्ताओं से घिरा हुआ हो तब उसे शान्ति और सहारा देने के लिये उपनिषदें ही अमोघ साधन के रूप में सहायता देने वाली हो सकती है।"

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक डॉ. पाल डायसन ने अपनी 'फिलासफी ऑफ उपनिषद्स' नामक पुस्तक में लिखा था कि "भारत वर्ष में आध्

गाना जाने वाला उपनिषद्-ज्ञान, वस्तुत. समस्त विश्व के लिये अनुपम है। क्योकि उसमे दार्शनिक सत्य की अद्भुत अभिव्यंजना है। इनमे आत्म विद्या के परम श्रेयकर सिद्धान्तो का ऐसा मार्मिक विवेचन है, जैसा ससार भर मे कहीं अन्यत्र शायद ही हुआ हो।"

मैक्समूलर ने तो उपनिषदो का ऋणी होने की बात ही कह डाली है। उन्होने स्वीकार किया है कि "उपनिषदो के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष मे पर्याप्त सहायता मिली है।"

इनके अतिरिक्त और भी अनेक विद्वान् उपनिषदो की उत्कृष्टता स्वीकार करते हुए उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं। यह हुई विदेशी विद्वानो की मान्यताओ का कुछ दिग्दर्शन, हमारे देश के भी अनेकानेक विज्ञ पुरुष उपनिषदो को ज्ञान को अद्वितीय मानते रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार अपने भाषण मे कहा था—"मैं जब उपनिषदो को पढता हूँ तब मेरी आंखो से आंसू बहने लगते हैं। यह कितना महान् ज्ञान है? यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम उपनिषदो मे विद्यमान तेजस्विता को अपने जीवन मे विशेष रूप से धारण करें। हमे शक्ति की आवश्यकता है, क्योकि शक्ति के बिना हमारा काम नही चल सकता। किन्तु, यह शक्ति कहां से प्राप्त हो? उपनिषदें ही शक्ति की खानें हैं। इनमे जो शक्ति भरी पडी है, वह समस्त विश्व को बल, शौर्य और नया जीवन दे सकती है। उपनिषदें किसी भी देश, जाति, मत, सम्प्रदाय का भेद किये बिना प्रत्येक दीन, दुर्बल, दुखित और दलित प्राणी को पुकार-पुकार कर कहती हैं कि 'उठो, अपने पांवो पर खडे हो जाओ। सब बन्धन काट डालो। शारीरिक स्वतन्त्रता, मानसिक स्वतन्त्रता और आध्यात्मिक स्वतत्रता, उपनिषदो का यही मूल मन्त्र है।"

श्रीविनोबाजी ने अपनी एक पुस्तक 'उपनिषद् एक अध्ययन' की प्रस्तावना मे लिखा है कि "उपनिषदो की महिमा अनेको ने गायी है। किसी कवि ने कहा है कि 'हिमालय जैसा पर्वत नही और उपनिषद् जैसी

पुस्तक नहीं।' परन्तु मेरी दृष्टि में उपनिषद् पुस्तक है ही नहीं, वह तो एक दर्शन है। उस दर्शन को यद्यपि शब्दों में अंकित करने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी शब्दों के कदम लड़खड़ा गये हैं। परन्तु सिर्फ निष्ठा के चिन्ह उभरे हैं। उस निष्ठा को हृदय में भर कर शब्दों की सहायता से शब्दों को दूर हटा कर अनुभव किया जाय, तभी बोध हो सकता है। मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है, लेकिन मैं जानता हूं कि उपनिषद् मेरी माँ की माँ है। उसी श्रद्धा से उपनिषदों का मेरा मनन, निदिध्यासन पिछले छत्तीस वर्षों से चल रहा है।"

सन् १७५७ में बंगाल में फ्रांस के राजदूत श्री जटियल ने जब अपने देश में जाकर उपनिषदों की प्रशंसा की तो उससे वहाँ के अनेक विद्वान् अत्यन्त प्रभावित हुए। तब उपनिषद्-ज्ञान को जानने के उद्देश्य से पादरी ड्यूपास भारत आये और उन्होंने यहाँ चौदह वर्ष रह कर संस्कृत पढ़ी और फिर सन् १८०१ में उन्होंने उपनिषदों का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया।

अँग्रेजी, फ्रेंच, फारसी आदि के अतिरिक्त अन्यान्य भाषाओं में भी उपनिषदों के अनुवाद होते रहे हैं। विश्व की कोई भी ऐसी सभ्य भाषा नहीं है, जिसमें उपनिषदों के विषय में छोटे-बड़े ग्रन्थों का प्रकाशन न हुआ हो। वस्तुतः उपनिषद् रूपी तत्व ज्ञान पर समस्त संसार के दार्शनिक विमुग्ध हो रहे हैं।

वस्तुतः हमारे उपनिषद् मानव जीवन का सर्वांग पूर्ण दर्शन ही है। इसलिये आवश्यक नहीं कि उससे हिन्दु ही जाति लाभ उठाये। हिन्दुओं की यह अभूत पूर्व देन एक सर्व व्यापक दृष्टिकोण लिये हुए है। इसमें जीवन को सुख, शान्ति और आनन्द के साथ जीने तथा प्रगति-पथ पर निरंतर बढ़ते रहने की विद्या का ही भले प्रकार विवेचन हुआ है। इनमें

लौकिक, पारलौकिक, वाह्य एवं आन्तरिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का महत्वपूर्ण विज्ञान भरा है।

उपनिषदें छोटे-छोटे प्रकरणों के रूप मे प्रतीत होती हैं। यदि सरसरी दृष्टि से देखें तो लगेगा कि इनमे सब कुछ सामान्य-सा ही है, कुछ विशेष नही है। किन्तु गम्भीरता पूर्वक मनन करने पर प्रतीत होगा कि उनकी एक-एक पक्ति अपूर्व है, उसमे ज्ञान का अथाह सागर भरा है, पर जो खोजेगा, वही पा सकेगा उसमें से कुछ रत्न।

अनेक विचारकों का निष्कर्ष है कि उपनिषदो मे जो ज्ञान निहित है उसके अध्ययन, मनन आदि से मनः क्षेत्र मे प्रकाश की श्रेयस्कर दिव्य किरणें दिखाई देती हैं, इसी कारण जो लोग आत्म कल्याण की आकाक्षा करते हैं, वे उपनिषदो का पाठ नित्य प्रति करते हैं। पाठ के ही अनेक लाभ हैं—प्रारम्भिक लाभ तो यही है कि उनमे निहित विचार बार-बार मनः क्षेत्र मे उतरते हैं और वे ज्यो-ज्यो गहरे होते जाते हैं, त्यों-त्यो निष्ठा बढती जाती है।

किन्तु निष्ठा बढने मात्र से ही तो काम चलता नही। उसके साथ उन विचारो को भी व्यवहार मे उतारना होगा। क्योंकि यथार्थ रूप से कार्य रूप मे लाये बिना कोई उपलब्धि नही होती। आप विज्ञान के विद्यार्थी को देखें, वह प्रेक्टिकल के बिना किसी सही परिणाम पर पहुँचने मे असमर्थ रहता है। उसकी अधूरी शिक्षा तभी पूरी होती है, जब वह केवल थ्योरी पर ही निर्भर न रहे। कहा भी है—'करत-करत अभ्यास के जड मति होत सुजान' अभ्यास करते-करते मूर्ख भी बुद्धिमान बन जाता है।

कुछ लोग कहते हैं कि उपनिषदो की भाषा तो अधिक कठिन नही है, किन्तु उनमे जो रहस्य भरा है, उसके समझने मे कठिनाई उपस्थित होती है। सामान्य मनुष्य उसे सरलता से समझ नही पाता। किन्तु बात

ऐसी नहीं है—देखने में उनमें जितनी कठिनाई प्रतीत होती है, उतनी कठिनाई है नहीं। कुछ मस्तिष्क पर जोर देने की आवश्यकता है। है। उपनिषद् ही क्या, सभी प्रकार के ज्ञान, विश्व की सभी विद्याएँ, उनमें गहरे प्रवेश करने से शीघ्र ही समझ में आजाती हैं।

ईश्वरवाद का प्रथम प्रसारक—

यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि उपनिषदों में किसी वर्ग विशेष या जाति विशेष को महत्व नहीं दिया गया है। उनका दृष्टिकोण इतना व्यापक है कि समस्त संसार उनके ज्ञान से लाभान्वित हो सकता है। यह हिन्दू धर्म के प्रवर्तन ऋषि-महर्षियों के उदार दृष्टिकोण का ही प्रतिफल है, जिसमें कहीं कोई सीमा नहीं, कहीं कोई संकोच नहीं, कहीं कोई वर्ग भेद नहीं। हिन्दू धर्म सभी को आत्म भाव से देखता है, सभी को अपना मानता है, सभी का कल्याण चाहता है। वह कहता है कि विश्व में जहाँ, जो कुछ भी है, सभी परमात्मा का है, सभी में एक मात्र परमात्मा ही समाविष्ट है—'ईशावास्यमिदं सर्वं' 'इस सबमें ईश्वर ही बसा हुआ है।

और जब ईश्वर ही बसा है सर्वत्र, तो भेद कैसा? अन्तर कैसा? आत्मा परमात्मा की ही अंशभूत है। कोई भी उनसे भिन्न नहीं तो इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि आत्मा-आत्मा में अभेद है। जिस धर्म में इस प्रकार का अभेद प्रतिपादन होता हो, उस धर्म के विकार-रहित द्वेष-रहित होने में क्या संदेह हो सकता है?

हिन्दू-धर्म मूल रूप से तो विश्व-धर्म है। सबसे प्राचीन होने के कारण यदि इसे अन्य सभी धर्मों का जनक कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नहीं मानी जा सकती। फिर भी कुछ लोग हिन्दूवाद पर कट्टरता का आरोप लगाते हैं, किन्तु यह उनका भ्रम ही है। हिन्दूवाद कहो या हिन्दू-धर्म कहो, वह कभी भी कट्टर नहीं रहा। वह तो सदा ही इतना

उदार रहा है कि दूसरे धर्मों की कट्टरवादिता को झेलता रहा है। उसने अपनी धर्म-ध्वजा ऊँची रखने के प्रयत्न में किसी अन्य धर्म को गिराने का प्रयत्न कभी नहीं किया।

यद्यपि हिन्दू धर्म मे मत-मतान्तरो की शृंखला भी चल पड़ी और उसके कारण खिंचाव भी बढ़ने लगे। किन्तु यह सब इसी रूप मे हुआ जैसे किसी एक लक्ष्य पर या एक गन्तव्य पर पहुँचने के लिये भिन्न-भिन्न मार्गों से यात्रा की जाय। क्योंकि ईश्वर एक है—यह सभी ने एक स्वर से स्वीकार किया है। कोई कहता है कि वह साकार है, कोई कहता है निराकार है। दृश्यमान जगत् के सभी साधन आकार में होते हैं, इसलिये आरंभिक ज्ञान यदि साकार ईश्वर को माने तो उसमे कोई हानि नही। साकार की मान्यता दृढ होने पर अन्त मे निराकार की प्राप्ति का सुयोग सहज प्राप्त हो जाता है।

उपासना में साकार और निराकार की मान्यता अपनी-अपनी भावना के अनुसार होती है। 'जाकी रही भावना जैसी हरि मूरत देखी तिन तैसी'—जैसी भावना वैसा ही ईश्वर का रूप। पर, रूप कोई भी हो, ईश्वर तो है ही और ईश्वर के होने की मान्यता का श्री गणेश हिन्दू धर्म से ही हुआ। हिन्दू धर्म ने ही सर्व प्रथम यह खोज की कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का एक कारण है, जिसे परमात्मा या ईश्वर कहते हैं। इसका अर्थ है कि हिन्दू-धर्म ईश्वर-धर्म है, यदि कोई इसे हिन्दूवाद कहे तो उसे हिन्दूवाद न कह कर ईश्वर वाद कहना चाहिये। इसी ईश्वरवाद से समस्त संसार ईश्वर को मानता है। वह चाहे उसका नाम कुछ भी रख ले।

ईश्वर का कोई एक नाम नहीं है। गुण-कर्म के अनुसार उसके नामो मे भी परिवर्तन हुए हैं। हिन्दुओं मे ही कोई उसे परब्रह्म कहते हैं, कोई ब्रह्म कहते हैं। कोई परमात्मा, ईश्वर या भगवान् कहते हैं। सगुण

रूप में विष्णु, वासुदेव, हरि आदि अनेकों नाम हैं—'हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता' यह तो हिन्दुओं की मान्यता की बातें हुईं। अब अन्य धर्मावलम्बियों की बात लीजिये—इस्लाम भी ईश्वर परक है, वह भी खुदा के नाम से उसकी उपासना करता है, वह भी अल्लाह कहता है परमात्मा को और नारे लगाता है 'अल्लाहो अकबर !'

जानते हैं 'अल्लाहो अकबर' का अर्थ ? बड़ा सीधा सच्चा अर्थ है—'ईश्वर महान् है' हम भी ईश्वर को महान् मानते हैं और वे भी, किन्तु धर्मान्धता से नारे लगाते हैं कुछ और समझ कर। मजा यह कि अपनी बात को स्वयं ही नहीं समझते। गाँधीजी ने इसीलिये कहा था—"अल्लाह अकबर तेरे नाम, सबको सम्मति दे भगवान" गांधी जी चाहते थे कि धर्मान्धता दूर हो जाये और सभी को सद्‌बुद्धि प्राप्त हो। उनके दृष्टिकोण में हिन्दू धर्म की उदारता थी, पर लोगों ने शायद उन्हें समझने में भूल की।

तो, हम कहते हैं कि ईश्वर के अनेक नाम हैं, जो विभिन्न मतानुयायियों ने अपने-अपने ढङ्ग पर रखे हैं। मुसलमान खुदा या अल्लाह कहते हैं परमात्मा को, तो क्रिश्चियन 'गौड' कहते हैं। किन्तु इस प्रकार के नामान्तरण से सत्य में अन्तर नहीं पड़ सकता। परमात्मा एक ही है, वही सत्य है, कोई बात नहीं, यदि हम उसे ब्रह्म कहें, ईश्वर कहें, परमात्मा या भगवान् कहें। खुदा, अल्लाह अथवा गौड भी कह दें तो क्या अन्तर पड़ने वाला है ? भारत वर्ष तो एक ही है, उसे हिन्दुस्तान कहें अथवा इंडिया, किसी प्रकार से बदलाव तो हो नहीं सकता उसकी स्थिति में।

इस प्रकार ईश्वर-ईश्वर ही रहेगा, वह न खुदा कहने से बदलेगा, न गौड कहने से। वह अनादि है, अनादि और अनन्त ही रहेगा। किन्तु उसके अनादि और अनन्त होने की घोषणा सर्व प्रथम हिन्दू धर्म के

प्रवृतक ऋषि-मुनियों ने ही की है। यही कारण है कि भारतवर्ष सभी प्रकार से अग्रणी रहकर संसार का गुरू होने का गौरव प्राप्त करता रहा है। आज धर्मान्धता के फेर में इस सत्य को चाहे कोई स्वीकार करे या न करे, किन्तु सत्य तो सत्य ही रहेगा। वह कभी झुठलाया नहीं जा सकता।

प्राचीन कालीन हिन्दू एकता के सूत्र

हिन्दू संस्कृति की व्यापकता–

हमारे ग्रन्थ इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि हिन्दू संस्कृति बहुत व्यापक और प्राचीन है। यह अनादि काल से चली आ रही है और विश्व में सर्वत्र ही फैली हुई है। समय के थपेड़ों ने इसके रूप बदलने का चाहे जितना प्रयत्न किया हो, फिर भी यह अपने मूल स्वरूप को नहीं छोड़ सकी।

यह भी एक तथ्य है कि मनुष्य जाति की उत्पत्ति का इतिहास सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के प्राकट्य से आरम्भ होता है। यद्यपि ब्रह्मा को सभी प्राणियों का उत्पत्तिकर्त्ता माना जाता है, फिर भी उनके पुत्र मरीचि मनुष्य ही थे। मरीचि के पुत्र कश्यप की दो पत्नियाँ थीं, दिति और अदिति। दिति से जो सन्तान हुई, वह दैत्य और अदिति की सन्तान आदित्य अर्थात् देवता कहलाई। अब जरा ध्यान दीजिये इस बात पर कि दैत्य और देवता में वंशगत कोई भेद नहीं है। फिर भी उनमें स्वभाव की भिन्नता ग्रह-कलह का कारण बनती रही। जिनमें अधिक उग्रता थी वे अपनी लोक प्रियता खो बैठे और जिनमें सतोगुण को

अधिकता के कारण शान्त थी, उनका समाज में सम्मान भी अधिक रहा।

दिति की जो सन्तान दैत्य कही जाने लगी, उसमें तामसी गुण अधिक रही हो। अदिति की सन्तान देवताओं में शान्तिप्रियता, न्यायप्रियता और धर्म के प्रति अधिक आस्था रही होगी। वे लोग 'सुर' कहे जाने लगे। अब जो सुर से भिन्न रहे, उन्हें 'असुर' कहा गया। इस प्रकार दैत्यों को असुर या राक्षस के नाम से भी जाना जाने लगा। किन्तु 'राक्षस' का अर्थ रक्षा करने वाला भी है। इससे प्रतीत होता है कि दैत्य लोग देवताओं के अथवा संसार के अन्य प्राणियों के रक्षक रहे हों, इसीलिये राक्षस कहे जाते हों।

और 'असुर' शब्द का अर्थ भी कुछ विपरीत नहीं बनता। वेदों में ही असुर शब्द का प्रयोग ईश्वर, इन्द्र, अग्नि या वरुण आदि के लिये हुआ है। महाभारत में भी कहीं-कहीं ऐसा देखने में आता है। वस्तुत: यह लोग भी बहुत शक्तिशाली, विद्या-सम्पन्न और शायद तान्त्रिक या मायावी भी रहे हैं। माया का प्रयोग देवता भी करते रहे हैं, दैत्य भी, इसलिये दैत्यों को एक दम समाज विरोधी ही क्यों मान लिया जाय? अच्छे-बुरे सभी में होते हैं। पुराणों में देवताओं के आचरण पर भी लांछन मिलता है। देवराज इन्द्र के अनाचार के अनेक कथाएँ मिलती हैं। दैत्यों में भी अच्छे आचरण के तथा भगवान् के भक्त हुए हैं। प्रह्लाद दैत्य ही थे, राजा बलि भी उन्हीं के वंशज थे, जिन्होंने अपना सर्वस्व दान कर दिया। महाभारत कालीन शाल्व भी दैत्य था और शायद आपको पता हो कि सावित्री का पति सत्यवान भी उसी वंश में उत्पन्न हुआ था। दैत्यवंशी द्युमत्सेन के पुत्र इसी सत्यवान को देवर्षि नारद ने सूर्य के समान तेजस्वी और देवगुरु बृहस्पति के समान मेधावी, इन्द्र के समान समर्थ और पृथिवी के समान क्षमा (धारण) गुण सम्पन्न

कहा था। इसी सत्यवान की पत्नी संसार प्रसिद्ध पतिव्रता सावित्री थी, जो राजयोगी महाराज शिवि के वंश में उत्पन्न हुई थी।

इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि देव-दैत्यों में वंश की दृष्टि से तो कोई भेद है ही नही, उनमें परस्पर में सम्बन्ध भी होते रहे हैं। आज सुर, असुर जातियों के विषय में चर्चा प्रायः नहीं होती, क्योंकि इनका अस्तित्व पुस्तकों में ही दिखाई देता है। फिर भी दो शब्द इस समय भी हेय दृष्टि के विषय बने हुए हैं, वे हैं म्लेच्छ और यवन। इन शब्दों को प्रयोग हिन्दुओं से भिन्न लोगों के लिये किया जाता है। किन्तु हिन्दुओं में भी जो उग्र प्रवृत्ति के या भ्रष्ट आचरण वाले व्यक्तियों के लिये भी प्राय. म्लेच्छ कह देते हैं। अपने ही घरों में कभी-कभी किसी की उग्रता से रुष्ट होने पर उसके प्रति म्लेच्छ शब्द का प्रयोग किया जाता बहुत बार देखते हैं।

किन्तु म्लेच्छ या यवन शब्द भी किसी प्रकार घृणात्मक नहीं हो सकता। इन शब्दों का प्रयोग पहिले भी होता रहा है। राजा ययाति का नाम तो बहुतों ने सुना होगा, जिन्हें बड़े-बड़े यज्ञादि शुभ कर्मों के फल स्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति हुई थी। किन्तु अभिमान के कारण इन्हें स्वर्ग से गिरा दिया गया था। इनके धोपतों ने जब अपने नाना को स्वर्ग से गिरते देखा तो अपने तपोबल से पुनः स्वर्ग में पहुँचा दिया।

इन्हीं राजा ययाति के पाँच पुत्र थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। सबसे बड़े पुत्र यदु का वंश तो बहुत ही विख्यात हुआ जिसमें स्वयं भगवान् वासुदेव कृष्ण हुए थे। किन्तु दूसरे पुत्र तुर्वसु के पुत्र यवन हुए और चौथे पुत्र अनु की सन्तान म्लेच्छ हुई। महाभारत के आदि पर्व में ही इसका उल्लेख है—

> यदास्तु यादवा जाता तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः।
> द्रुह्यो सूताः तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छ जातयः॥

"यदु के पुत्र यादव हुए तुर्वसु के यवन, द्रुह्यु के भोज और अनु के म्लेच्छ जाति वाले पुत्र हुए।"

अब आप किससे घृणा करेंगे ? किसे अपने से भिन्न मानेंगे ? न तो दैत्य, राक्षस, असुर ही अपने से भिन्न हैं, न म्लेच्छ और यवन ही। सभी मनुष्य हैं, वरन् मनुष्य नहीं हिन्दू ही। यह इतने ढेर सारे विधर्मी दिखाई देते हैं, वे सब कहाँ से उत्पन्न हुए ? उनके पूर्वज तो वे ही हैं, जो हमारे थे। श्रीमद्भागवत के द्वारा भी हमें प्रतीत होता है कि जो राजवंश में उत्पन्न हुए व्यक्ति किन्हीं कारणों से विरक्त हो गये वे भारत वर्ष में ही नहीं रहे. उनमें से कुछ भारत से बाहर अन्य देशों में भी चले गये। उन्होंने वहाँ अपना निवास बनाया और उनके साथ जो लोग गये, वे भी वहीं बस गये। जब बसे तो उनकी दिनचर्या, उनके विचार आदि पर भी देश-काल का प्रभाव पड़ना आवश्यक था।

आपने सुना होगा कि ईरान का पदच्युत राजवंश अपने को आर्येन सम्राट् कहता था। आर्येन सम्राट् अर्थात् आर्य वंश (हिन्दू वंश) से उत्पन्न बादशाह। इसका अर्थ है कि वह मूल रूप से तो हिन्दू ही था, उसके पूर्वज वहाँ पहुँचे होंगे कभी और धीरे-धीरे वहाँ की बोली-भाषा भी अपना बैठे होंगे। वर्तमान में ही देखते हैं कि एक प्रदेश का व्यक्ति जब दूसरे प्रदेश में रहने लगता है, तो उसकी आदत में वहाँ की भेष-भूषा, भाषा आदि आ ही जाती है। अँग्रेज जब भारत में आये थे, तब वे भी प्रायः भारतीय भेष-भूषा में रहते थे और यहाँ की बोली भी बोलते थे। वर्तमान समय में भी बहुत-से विदेशी संस्कृत, हिन्दी, उर्दू आदि भाषाएँ ठीक प्रकार से बोल लेते हैं।

शायद आपको पता हो कि आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब नामक जातियों के पुरखा विश्वामित्र थे। उनके अनार्य बनने की भी एक मजेदार कहानी ऐतरेय ब्राह्मण में मिलती है कि उन्होंने शुनः शेप

भाई न माना, इस कारण विश्वामित्र ने उन्हे शाप दिया कि तुम अनार्य हो जाओ। तभी वे अनार्य कहे जाने लगे।

अत्यन्त क्रूर, अत्याचारी, आताताइयों के प्रति शान्ति प्रिय मनुष्यों मे अशान्ति, असन्तोष और विद्रोह भाव होना स्वाभाविक है। चाहे वे भाव दमन चक्र के द्वारा दबा ही दिये जांय। इस देश को उस प्रकार के दमन चक्र का बहुत बार सामना करना पड़ा है। ईसा से पूर्व की तीसरी या चौथी शती मे भारत पर शको, यवनो, कुशाणो, हूणों आदि के आक्रमण हुए। इनमे यवनों का तात्पर्य ग्रीक लोगों से है। किन्तु ये यहाँ आकर आर्यत्व ग्रहण कर बैठे।

यद्यपि यह सब जातियाँ अत्यन्त हिंसक, क्रूर एवं असभ्य थीं, और उन्होंने यहाँ आकर बहुत बर्बरता दिखाई। किन्तु यह हमारी उदार संस्कृति का ही प्रभाव था, कि वे भारतीय ढाँचे मे ऐसी ढली कि कुछ ही पीढ़ियों मे सुसंस्कृत बन कर हिन्दुओ मे मिल-सी गईं। उन्होंने वे सभी आचार-विचार स्वीकार कर लिये जो हिन्दुओ के थे, जैसे कि ब्राह्मण भोजन कराना, दान-पुण्य करना, कथा आदि सुनना। अभिप्राय यह कि उनके आचार-विचारों मे हिन्दुओं से भिन्नता न रही और वे एक प्रकार से भारतीय समाज के अङ्ग ही बन गये। यह तथ्य अनेक शिला-लेखों से, विजय स्तम्भो से तथा उपलब्ध प्राचीन सिक्को आदि से सहज ही प्रमाणित हो जाता है।

इस विषय मे इतना कथन ही पर्याप्त होगा कि उक्त तथ्य प्रायः इसके सूचक हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, सुर, असुर, देवता, दैत्य, मनुष्य आदि सब एक ही वंश के रहे होंगे। गुण, कर्म और स्वभाव से उनमें जाति-भेद की कल्पना हुई होगी। इनमें विवाह सम्बन्ध भी। किसी जाति-बन्धन के बिना होते रहे होंगे। राजा ययाति क्षत्रिय था और उसकी पत्नी देवयानी ब्राह्मण की पुत्री। इससे यह समझा जा सकता है

कि प्राचीन काल में विवाहादि में भी कोई जातिगत विशेष बाधा न थी।

हिन्दू धर्म की सहिष्णुता—

हिन्दू धर्म में सदा से ही सहिष्णुता रही है। उसने सद्गुणों को ग्रहण किया है तो देने में भी कंजूसी नहीं की है। ईसाई मिशनरियों के समान हिन्दू-मिशन भी धर्म-प्रचार में कभी तत्पर रहता था। हिन्दू-विद्वान् घर छोड़ कर देश-विदेशों मे घूमते रहे हैं। अपने महर्षि अगस्त्य की महिमा के विषय में पढ़ा-सुना होगा, जिन्होंने पूरे समुद्र को अंजुली भर-भर कर पान कर लिया था। यह अगस्त्य मुनि काशी के निवासी थे, किन्तु हिन्दू धर्म के प्रचारार्थ ही घर से चल पड़े और उन्होंने अनेक आश्रमों की स्थापना करते हुए रामेश्वरम् तक धर्मध्वजा फहरा डाली। जब भगवान् श्रीराम लंका-विजय के लिये उधर गये, उससे पहिले ही अगस्त्य अपना कार्य पूरा कर चुके थे। यद्यपि उधर जो राक्षस रहते थे, वे उनके इस कार्य से अप्रसन्न थे, इसलिये उन्होंने बार-बार उन आश्रमों को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया। किन्तु ऋषिगण पीड़ित होकर भी हार मानने वाले नहीं थे। राक्षस लोग उन आश्रमों को नष्ट करते और ऋषिगण उन्हें पुनः व्यवस्थित कर लेते थे।

प्राचीन ऋषियों ने अत्याचारों को बार-बार सहन किया और साथ ही यह प्रयत्न भी किया कि वे उनके यज्ञादि कर्म में सहायक हों। चमत्कार को नमस्कार तो सदा ही होता रहा है, ऋषियों के चमत्कारों से राक्षस भी चमत्कृत और भयभीत रहते थे। वरन् कोई-कोई राक्षस तो ऋषियों से यज्ञादि कर्मों की दीक्षा भी लेते रहते।

रामायण से यह ज्ञात होता है कि रावण स्वयं भी मंत्रज्ञ और तान्त्रिक था। वह यज्ञादि भी किया करता था। उसने अनेक ग्रन्थों के भाष्य भी किये थे, जिनमें उसके गायत्री-भाष्य तथा अन्यान्य ग्रन्थ अब

भी उपलब्ध है। उसकी लका मे वेदमंत्र सुने जा सकते थे, धार्मिक अनुष्ठान भी देखे जा सकते थे। किन्तु उसकी तामसी प्रवृत्ति से प्राणिमात्र क्षुब्ध था। वह शिव-भक्त होता हुआ भी, अपने स्वभाव से विवश था उत्पीडत करने के लिये।

रावण ने सीता का अपहरण किया था, यही उसके विनाश मे मुख्य कारण था। यद्यपि रावण के परिवारीजन इस कार्य मे उससे सहमत नहीं थे तो भी उसकी आज्ञा तो पालन करनी ही थी। उधर समस्त ऋषि-मुनियो और धार्मिको की सहानुभूति श्रीराम के साथ थी। करोडो बन्दरो का राजा सुग्रीव और महाबली हनुमान राम के साथ हुए। रावण के पतन मे यह सभी राम के सहायक थे।

यह त्रेता युग की बात है। कृष्ण द्वापर के अन्त मे हुए थे। अवतारो का प्राकट्य युगान्त मे ही होता है, जिससे कि पृथिवी पर बढा हुआ भार हल्का हो सके श्रीकृष्ण तो युग-युग मे प्रकट होने की घोषणा ही करते हैं। जो कार्य भगवान् राम पूरा न कर सके, उसे भगवान् कृष्ण ने पूरा किया। इसका यह अर्थ नही कि राम उसे कर नही सकते थे, वरन् जब जैसी आवश्यकता होती है, तभी कोई कार्य किया जाता है। श्रीकृष्ण ने समस्त राष्ट्र को एक सूत्र मे बाँधने की आवश्यकता का अनुभव किया, इसीलिये उन्होने व्रज तो छोडा ही, मथुरा नगर भी छोड़ दिया। क्योकि मथुरा में रहते हुए वह कार्य नहीं किया जा सकता था, जिसे वे करना चाहते थे।

फिर मथुरा सभी शत्रु-समूह के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया था। कस-पक्ष के सभी राजे-महाराजे कृष्ण, बलवान और उग्रसेन को मार कर राजधानी को हथियाने के फेर मे थे। यह तथ्य कृष्ण की दृष्टि से भी छिपा न था, इसलिये उन्होने अपना समस्त परिवार और परिकर वहाँ से हटा कर द्वारिकापुरी मे भेज दिया। वहाँ रह कर ही वे अपने उद्देश्य की पूर्ति ठीक प्रकार से कर सकते थे।

एक राष्ट्र सत्ता के संगठक-श्रीकृष्ण :

समूचे राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने की दिशा में श्रीकृष्ण का कार्य अनुपम है। उन्होंने पाण्डवों के द्वारा राजसूय यज्ञ करा कर सब राजाओं को एक झण्डे के नीचे बैठा दिया। उसके लिये भारतवर्ष के मध्य में ही इन्द्रप्रस्थ की राजधानी हस्तिनापुर थी, किन्तु यह दोनों ही स्थान वर्तमान दिल्ली के समीप हैं। पृथिवीराज चौहान तक दिल्ली की राजगद्दी हिन्दुओं के हाथों में रही।

श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को सार्वभौमिकता करने का पूरा प्रयत्न किया। यद्यपि इसमें व्यवधान पड़ा महाभारत के रूप में, तो भी जब महाभारत युद्ध में कौरव गण हार गये तब उन्होंने उन्हीं से अश्वमेध यज्ञ करा कर समस्त भारत वर्ष में ही नहीं, भारत से बाहर भी पाण्डवों की प्रभु-सत्ता स्थापित करा दी।

युधिष्ठिर के पास न कोई अधिक शक्ति थी, न शौर्य और दृढ़ता ही थी। किन्तु अकेले कृष्ण के भरोसे रह कर ही पांडवों ने विश्व-विजय करली, जिससे सभी संसार को एक सूत्र में होने का बड़ा भारी कार्य सम्पन्न हो सका।

श्रीकृष्ण ने वेद-समस्त धर्म को अधिक महत्त्व दिया। उनका गीता-ज्ञान इतना अनुपम है कि उसमें सभी धर्म शास्त्रों का, उपनिषदों का, स्मृतियों का सार आ गया है। वह ज्ञान आज भी इतना अनुपम और उपयोगी है कि उसके प्रति केवल भारतीय विद्वान ही नहीं, विभिन्न देशों के विद्वान् भी अत्यधिक आकर्षित हैं। यहाँ तक कि गीता का अनुवाद बहुत-सी भाषाओं में हो चुका है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण हिन्दू-धर्म के महान् प्रवर्त्तक रहे हैं, उन्होंने अपने उपदेशों में जो कुछ कहा था, वह मानव जाति के लिये आज भी महत्वपूर्ण है। वस्तुतः उनका मत इतना उदार है कि अन्य किसी धर्मा-

चार्य का शायद ही रहा हो। उन्होने जो कुछ भी कहा, उसे जीवन मे अब भी उतारा जा सके तो सचमुच ही एक नई क्रान्ति हो सकती है।

भारत वर्ष मे आर्य (हिन्दू) तो रहे ही हैं अनार्य भी कही-कही थे और उनमे अधिक शक्तिशाली भी। श्रीकृष्ण ने हिन्दू-कन्याओ से तो विवाह किया ही, अनार्य-कन्याओ मे भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया। उन्होने अनार्य जामबन्त की कन्या जाम्बवती से विवाह किया, वह उनकी प्रमुख आठ रानियो मे से ही एक थी। इस प्रकार उनकी दृष्टि मे उस अनार्य-कन्या का महत्व भी कम नही था।

नरकासुर नामक अनार्य राजा ने हजारो स्त्रियों का अपहरण किया था, श्रीकृष्ण ने नरकासुर को मार कर उन सभी स्त्रियो को मुक्त किया और उनकी प्रार्थना पर उन्हें अपने भवन मे भेज कर विवाह कर लिया। हिन्दू समाज के कट्टर दृष्टिकोण के कारण वे स्त्रियाँ नरकासुर के बन्धन से मुक्त होकर भी समाज द्वारा हेय और बहिष्कृत ही रही आती। इसलिये कृष्ण द्वारा उन्हे अपनाया जाना समाज-सुधार का भी एक अग ही माना जा सकता है।

इससे स्पष्ट है कि जो लोग कृष्ण पर अधिक भोगवादी होने का आरोप लगाते हैं, वे वस्तुतः भ्रम मे ही हैं। यदि उन स्त्रियो को वे न अपनाते तो उन्हें कोई भी स्वीकार करने को तैयार न होता। यदि कोई स्वीकार करता भी तो वैसा सम्मान कदापि न दे पाता।

प्राय: सभी विद्वान् ऐसा मानते है कि शिशुपाल और जरासन्ध जैसे महाबली राजा भी असुर थे। किन्तु वे हिन्दू संस्कृति के परम पोषक बनते थे। शिशुपाल उनकी बुआ का पुत्र माना जाता था, किन्तु विद्वेषी होने के कारण उसे अपने प्राणो से हाथ धोना पड़ा।

जरासन्ध तो यज्ञ करने वाला और दानी भी था। उससे याचक जो कुछ माँगता वही देता था। किसी को खाली हाथ नही लौटने देता

था जब वह श्रीकृष्ण से पराजित होकर गिरिव्रज नामक स्थान में रहता था, तब कृष्ण भीमसेन के साथ उससे युद्ध माँगने के अभिप्राय से उसकी यज्ञशाला में ही गये थे। जरासन्ध उन्हें पहिचान गया था तो भी अपने वचन से विमुख नहीं हुआ। उसने उसके साथ युद्ध करना स्वीकार कर लिया और मारा गया।

बाणासुर तो नाम से भी असुर प्रतीत होता है। वस्तुतः वह अनार्य बाणासुर प्रसिद्ध महाबली था। कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध ने बाणासुर की कन्या से विवाह किया। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण ने विवाह-सम्बन्धों में आर्य-अनार्य, एवं जाति, वंश आदि के बन्धनों को तोड़ कर सामाजिक एकता के लिये कुछ कम कार्य नहीं किया था।

वैदिक काल सबसे प्राचीन माना जाता है। उससे पहिले न कोई संस्कृति का पता चलता है, न इतिहास का ही। उसके बाद रामायण और महाभारत का समय आता है। वस्तुतः यह दोनों ही ग्रन्थ हमारे लिये अनुपम हैं और इतिहास रूप में भी उनका ही महत्व है। यदि उस काल का इतिहास कहीं अन्यत्र मिल सके तो हो सकता है कि कोई नई जानकारी प्राप्त हो सके। किन्तु वर्तमान समय में तो लोग वेद, शास्त्र, रामायण, महाभारत आदि को भी कल्पना मानने लगे हैं। किन्तु, वे यह नहीं जानते कि भारत का प्राचीन गौरव इन्हीं ग्रथों में छिपा है।

पुराणों का विशेष महत्व—

कुछ लोग पुराणों को बहुत बाद की रचना मानते हैं, किन्तु अभी तक ऐसा निर्णय नहीं हो सका कि उन्हें कब रचा गया ? कुछ लोग तो वेदों की रचना ही ईसा से कुछ शताब्दी पहिले की बताते हैं। यद्यपि उनकी इस मान्यता मे अधिक बल नहीं मिलता, फिर भी यदि ऐसा ही मान लें तो क्या यह सम्भव नहीं कि पुराणों की रचना भी वैदिक काल मे ही हो गई। श्रीकृष्ण को स्वधाम पधारे हुए अभी पाँच हजार से कुछ

ही अधिक वर्ष हुए है । तब पुराणो की रचना उनके बाद हुई हो, यह तो सहज रूप से मान्य है, किन्तु वेदो की रचना कृष्ण काल के बाद हुई हो यह तथ्यो से परे ही हो सकता है ।

कुछ विद्वान् तो ऐसा भी मानते हैं कि पुराणो की रचना समय-समय पर होती रही है । जब जो अवतार हुआ, तभी उसके गुण-कर्मो ने पुराण का रूप ले लिया । किन्तु यह नही कहा जा सकता कि वे रचनाएँ उसी समय की गई हो । क्योकि उन दिनो लिखने की प्रवृत्ति बहुत कम थी और सभी वृत्तान्त परम्परा से सुनाये जाते थे । गुरु को जो कुछ याद रहता, वह शिष्य सुनता और शिष्य को याद रहता, वह उसका शिष्य सुनता । इस प्रकार किसी भी ज्ञान या किसी भी घटना का स्मृति (याददाश्त) के आधार पर चलना ही सभव था और इस कारण उस घटना का क्रम कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन या संक्षेप भी होना स्वाभाविक था ।

इस प्रकार पुराणों को भी हम निरी कल्पना नहीं मान सकते । उनमे वर्णित घटनाएँ किन्ही आधारो पर ही हो सकती हैं । उनमे जिन स्थानो का वर्णन मिलता है, उनमें से बहुत-से स्थान अब भी विद्यमान हैं । बहुतो के खण्डहर मिलते हैं, तो बहुतों के नाम बदल गये हैं । अनेक स्थान लुप्त भी हो गये हैं ।

इसलिये पुराणो मे भी इतिहास विद्यमान हैं । इस देश की मूल सस्कृति वेदो मे, उपनिषदो मे, ब्राह्मण ग्रन्थों मे तो है ही, पुराणो मे भी उसके किसी न किसी रूप में दर्शन होते ही हैं ।

और हम समझते हैं कि हमारे सभी शास्त्रो ने तो हिन्दू धर्म को जितना दृढ करने का कार्य किया हो, पुराणो ने भी इस दिशा मे कम काम नही किया । पुराणो के द्वारा पारस्परिक एकता के भाव जाग्रत हुए, विशेष कर इस रूप मे भी कि शिव, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र, देवी आदि

की भिन्नता दिखते हुए भी अनेक स्थानों पर उनकी एकता का प्रतिपादन हुआ है।

किन्तु वैदिक धर्म जब धर्म-प्राण जनता के लिये श्रद्धा और विश्वास का परम साधन बना हुआ था, तभी कुछ लोगों को उसके प्रति कुछ अश्रद्धा भी उत्पन्न हो गई। जब लोगों में महत्वाकांक्षा जाग्रत होती है, तब वे अपना महत्व बनाने के लिये नई-नई विचारधाराओं को जन्म देते हैं, और तब वे विचाराधारा ही मत-मतान्तर का कारण हो जाती हैं।

इसी कारण भारतवर्ष में ही बौद्ध धर्म और जैन धर्म का आरम्भ हुआ, जिसमें सभी विचारों और जातियों के मनुष्य दीक्षित होने लगे। उन धर्मों में कुछ विशेषताएँ भी थीं, जिससे लोगों में आकर्षण भी बढ़ने लगा। उन धर्मों के प्रति आकर्षण वृद्धि देख कर कुछ विद्वानों को लगा कि धार्मिक लोग वैदिक धर्म से हटते जा रहे हैं, इसलिये उन्होंने भागवत-धर्म का आरम्भ किया और भगवद्-भक्ति का प्रचार होने लगा। उसमें भावनात्मक रूप से भजन-संगीत, भोग-राग, आरती आदि की जो व्यस्था की गई, उसमें बहुत आकर्षण था, इसलिये लोग अब इधर भी झुकने लगे।

ऐसे ही समय में जगद्गुरु शकराचार्य प्रभृति विद्वानों ने धर्म सम्बंधी दिग्विजय का बीड़ा उठाया और वे साकार के साथ निराकार को लेकर चले। उन्होंने बौद्धमत के सिद्धान्तों से ही उस मत की काट की। किन्तु अनेक विद्वान् मानते हैं कि जगद्गुरु शंकराचार्य प्रच्छन्न रूप से बौद्ध ही थे।

किन्तु पुराणों ने अवतारवाद की शृंखला चलाई। उन्होंने लोगों को वैदिक मत से विमुख होते देखा तो ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, गणेश, राम, कृष्ण, दुर्गा आदि के चरित्रों की रचना की और उनका कथा रूप में

वर्णन कर लोगो की श्रद्धा जगाई। किन्तु इनमे वेदो को अमान्य नही किया गया, वरन् उन्हें वेद-सम्मत ही कहा गया। इससे एक लाभ यह भी था कि वेदवादी विज्ञजन भी उनकी ओर किसी न किसी रूप मे आकर्षित रहे। श्रद्धालु लोगो ने समझ लिया कि पुराणो के रूप मे रचित भक्ति-साहित्य से किसी प्रकार का अहित तो होगा ही नही।

फिर भी कुछ लोग पुराणो को कल्पना मात्र बताने लगे। उनके मत मे ऐसा होना सम्भव ही नही है। किन्तु पुराणो मे लिखी जिन घटनाओ और चमत्कारो को लोग असत्य मानते रहे, विज्ञान ने उन्हें और भी असमंजस मे डाल दिया है। क्योंकि विज्ञान ने जिन चमत्कारी आविष्कारो को किया है, वे भी मनुष्यो को आश्चर्य मे डालने वाले हो सकते है। जिन बातो को आज से पचास वर्ष पहिले असम्भव समझते थे लोग, वे बातें, वरन् उनसे भी अधिक इस विज्ञान युग मे प्रत्यक्ष देखने-सुनने मे आने लगी हैं।

कथाओं का उद्देश्य समाज-निर्माण रहा है–

वेद, पुराण, उपनिषद् सभी मे ज्ञान के अतिरिक्त घटनात्मक वर्णन भी मिलते हैं। घटनाओ का वर्णन तत्काल भी किया जा सकता है और बाद मे भी। सत्युग मे घटित घटनाएँ उस समय भी कही जाती रही होंगी, आज भी कही जाती हैं। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि वेद, उपनिषद्, पुराण आदि मे वर्णित घटनाएँ या कथाएँ बहुत प्राचीन हो सकती हैं। शायद इतनी प्राचीन कि वेदो, उपनिषदो, पुराणो आदि की रचना म भी पहिले घटित हुई हो।

किन्तु सभी कथाओ और घटनाओ के वर्णन मे मुख्य उद्देश्य रहा है समाज-निर्माण। वस्तुत. किसी भी सद् ग्रन्थ का यही उद्देश्य होना चाहिये। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियो ने इसी भावना को दृष्टिगत रखा है। किन्तु जहाँ उपासना का प्रश्न है, वहाँ निराकार ब्रह्म के उपासक वे

ही होंगे जो ज्ञान से युक्त हों। जो आत्मा-परमात्मा में अभेद मानते हुए आत्मोन्नति के लिए ही प्रयत्नशील हों।

पर सामान्य स्त्री-पुरुषों को निराकार में आकर्षण प्रतीत नहीं होता। वे साकार उपासना में ही श्रद्धा-विश्वास रखते हैं और यही कारण है कि भारतवर्ष में सर्वत्र शिव की, राम की, कृष्ण की, हनुमान की और दुर्गा आदि देवियों की पूजा की जाती है। वरन् इसमें से अधिक से अधिक देवता विदेशों में भी पूजे जाते हैं।

गणेश तो आदि देव माने ही गये है। कोई भी अनुष्ठान हो, पूजन हो, मांगलिक कार्य हो, गणेश का पूजन सर्व प्रथम किया जायगा। इससे एक तथ्य यह भी स्पष्ट होता है, कि गणेश-पूजन को सर्वमान्य बना कर सम्भवतः समूचे हिन्दू समाज को भावनात्मक दृष्टि से एक सूत्र में पिरोने का कार्य किया गया हो।

यह सभी बातें अधिक सूझ-बूझ की हैं। शायद आपको पता हो कि गणेश-पूजा के भारत वर्ष से बाहर, अन्य देशों में भी पूजे जाने के प्रमाण मिलते हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि गणेश और हनुमान दोनों ही ओंकार के प्रतीक हैं। उनके आकार लगभग वैसे ही बन सकते हैं और जब हम गणेश और ओंकार की एकता के विषय में सोचते हैं तब तो यह प्रमाण भी समुपस्थित होता है कि सभी पूजा-उपासनाओं के आदि में गणेश को मनाते हैं तो सभी मंत्रों के आदि में ओंकार को लगाते हैं। गणेश-पूजा के बिना कभी किसी पूजन का आरंभ नहीं होता और ओंकार के बिना कोइ मंत्र फलदायक नहीं होता। इससे यह तथ्य सहज ही समझा जा सकता है कि गणेश और ओंकार दोनों ने ही उपासना के क्षेत्र में एकता स्थापित करने का बड़ा भारी काम किया है।

वेदों ने तो जितनी ज्ञान-वृद्धि की, वह की ही। उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों ने भी उन्हीं का अनुकरण, अनुशीलन किया। किन्तु समाज

को एकत्रित और सगठित करने मे पुराणो ने अत्यधिक कार्य किया है। जो आकर्षण वैदिक देवताओ और उनके पूजन मे नही था, वह पौराणिक देवताओ मे सहज ही उपलब्ध है।

आधुनिक प्रकार की उपासनाओ मे भक्ति को मुख्य स्थान प्राप्त है। बाल्मीकि ने रामायण लिखी, उससे भक्ति का अधिक प्रचार न हो सका। बाल्मीकि के बाद भी बहुत-सी रामायणें लिखी गईं उन सब मे अधिक प्रचारित हुई तुलसी-रामायण, जिसका पाठ अब अनेक प्रदेशो मे सुना जाता है। किन्तु राम का चरित्र एक सीमा मे रहा है, उसमे इतना विस्तार नही है, जितना कृष्ण के चरित्र मे है। पुराण कारो ने कृष्ण की विभिन्न अनुपम लीलाओ का वर्णन भी मुख्य रूप से किया है। इससे लोगों मे कृष्ण के प्रति आकर्षण भी अधिक बढा हैं। यहाँ तक कि अमेरिका, ब्रिटेन प्रभृति पाश्चात्य देशो मे भी कृष्ण-मन्दिर बन गये है और वहाँ "हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण-कृष्ण हरे-हरे की मधुर ध्वनि गूँजती रहती है।

अमेरिका मे तो बहुत बडे क्षेत्र मे एक न्यू वृन्दावन नामक उपनगर ही बस गया है। भारतीय साधु, सन्त भक्ति वेदान्तजी के प्रयत्न से श्रीकृष्ण-भक्ति के प्रचार मे यहाँ बहुत कुछ कार्य हुआ है और वहाँ के लोगो ने समझा है कि यदि कुछ शान्ति मिल सकती हैं जीवन मे तो कृष्ण की उपासना से ही मिल सकती है।

और इस प्रकार की मान्यता मे कृष्ण की गीता मुख्य रूप से आकर्षण का विषय रही है। उसमे श्रीकृष्ण ने मनुष्य जाति के उत्थान के लिये बहुत कुछ मार्ग प्रशस्त किया है। गीता के दूसरे अध्याय से अठारहवें अध्याय पर्यन्त सभी कथन अत्यत उपयोगी, ज्ञानगम्य और कर्त्तव्य रूप है। उससे हम लौकिक और पारलौकिक दोनो स्थितियो में उत्कर्ष को प्राप्त हो सकते हैं।

यद्यपि गीता में भी बहुत-सी बातें इतनी गहन हैं कि सामान्य रूप से समझने में नहीं आतीं। फिर भी मोटे तौर पर यह तथ्य भी किसी से छिपा नहीं रह सकता कि कृष्ण जो भी कहते हैं अपने में ईश्वर से अभेद मान कर कहते हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि सभी अच्छी-बुरी वस्तुओं में जहाँ जो कुछ भी विशेषता है, वह मेरी ही है।

देवताओं की अभिन्नता से एकता की ओर—

विजयाकांक्षी हिन्दू समस्त भारत भूमि पर अधिकार करने की दृष्टि से सर्वत्र फैलने लगे। उनका निश्चय था कि हिमालय पर्वत से समुद्र तट पर्यन्त स्थित छोटे-छोटे राज्यों और बस्तियों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित किया जाय। इसी उद्देश्य से उन्होंने समस्त भारत महाद्वीप पर अपना फैलाव किया, किन्तु प्रयत्न यह किया कि सब में पारस्परिक मतैक्य रहे, विरोध न रहे। कम से कम धर्म के मामले में तो सब एक मत हो जाँय। यदि धर्म विषयक एकता रहती है तो विरोधाभास मिटने लगता है और अपनत्व भाव का विकास होता है जब सब को एक साथ रहना है तो उनके सामान्य आचरण में भी समानता रहना अपेक्षित है। आचरण की समानता से समाज का निर्माण होता है। वही समाज परस्पर में मिल कर राज्य का और राष्ट्र का रूप ले लेते हैं।

यही कारण था कि विरोध को न पनपने देने के उद्देश्य से उन्होंने परस्पर में सामान्य धर्म स्वीकार किया और परमात्मा सत्ता को सर्वव्यापी मान कर अहं-त्वं के भेद को समाप्त किया और एक मत से 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का आदेश स्वीकार कर सभी ने कृष्ण को समर्पण-भाव में श्रद्धा व्यक्त की।

यह गीता का ही प्रभाव था कि लोग अहं-त्वं की भावना से ऊपर उठकर परमात्मा में विश्वास करने लगे। यद्यपि उपनिषदों ने यह शिक्षा पहिले ही दे दी थी, किन्तु उस शिक्षा में ज्ञान के होते हुए भी आकर्षण

की कुछ कमी थी। कुछ तो लोग उस रहस्य को समझ ही न पाते थे, और जो समझते भी वे लौकिक सुख का मोह छोडने मे हिचकते थे। कुछ ऐसा मानते थे कि अभी ज्ञानार्जन के लिये तो बहुत आयु शेष है। कुछ सासारिक सुख तो भोग लें। जब बूढे होने लगेंगे तब ज्ञान प्राप्ति की दिशा मे बढेंगे।

किन्तु गीता मे लोक-सुख की बातें भी थीं, परलोक सुख की भी। यही कारण था कि गीता एक ऐसा सर्वमान्य ग्रन्थ रहा है, जिसके विषय मे सभी को श्रद्धा रही और सभी उसमे निहित उपदेशो का पालन करते रहे। वस्तुत कृष्ण-कथा के विस्तार मे और उन्हे योगिराज सिद्ध करने मे गीता ही मुख्य माध्यम रही है।

इस प्रकार कृष्ण, राम, शिव, विष्णु, हनुमान, दुर्गा आदि की पूजा सर्वत्र की जाती रही है। और सभी सगुण उपासक इनके प्रति श्रद्धा-विश्वास रखते हैं तथा यही इस देश की एकता मे अधिक साधक सिद्ध हुए हैं।

परन्तु शिव की उपासना कृष्ण-काल से अधिक पुरानी है। वे रुद्र नाम से वैदिक देवता के रूप मे भी दिखाई देते हैं। कुछ विद्वान् रुद्र को अनार्यों के देवता मानते हुए तर्क उपस्थित करते हैं कि वे नर-मुण्ड, सर्प आदि धारण करते और भूत-पिशाचो को अपने सेवकों तथा गणो के रूप मे साथ रखते हैं। वस्तुत: तामसी देवता तो वे है ही। शरीर पर मृतको की भस्म, चर्म-वस्त्र धारण करना, यह सब अशुभ तो है ही, शुद्धाचार और सात्विकता के भी विपरीत है।

किन्तु रुद्र के अनेक नाम हैं, जिनमे प्रमुख हैं शिव और शकर, शिव का अर्थ तो कल्याण है ही, शकर का अर्थ भी शमन करने वाला है। इस प्रकार रुद्र का तात्पर्य उस देवता मे है जो कल्याणकारी भी है तथा पापो और दु खो का शमन करने वाला भी है।

और यदि हम रुद्र को इस रूप में भी न लें तो हमारे ही शास्त्रों ने निराकार ब्रह्म के तीन साकार रूपों का प्रतिपादन किया है। जब वह परमात्मा सर्गारम्भ करना चाहता है तो सर्व प्रथम ब्रह्मा रूप से व्यक्त होकर सृष्टि की रचना करता है। जब सृष्टि स्थिर हो जाती है तब उसका पालन भी अनिवार्य है और यह कार्य करते हैं परमात्मा विष्णु रूप से। वेदों में भी भगवान् के विष्णु रूप की चर्चा स्थान-स्थान पर हुई है। फिर आता है रुद्र का कार्य, जब संसार का अन्त होता है, तब रुद्र को कार्य करना होता है। वे ही प्रलय करते हैं।

इन तीनों देवताओं के एक होने का प्रतिपादन प्रायः सभी पुराण करते हैं। विष्णु पुराण में कहा है—

> सृष्टि स्थित्यन्त करणीं ब्रह्म विष्णु शिवाभिधाम्।
> स संज्ञा यान्ति भगवानेक एव जनार्दनः॥

"वह एक ही भगवान् सृष्टि का उत्पादन, पालन, और संहार करता है। उसी के ब्रह्मा, विष्णु और महेश नाम हैं।"

इस प्रकार इन तीनों देवताओं की अभिन्नता सिद्ध करके महर्षियों ने आराध्य देवताओं सम्बन्धी विवाद की समाप्ति की दिशा में बहुत कार्य किया। वस्तुतः इसमें पारस्परिक मतैक्य स्थापित कर राष्ट्र को एक धर्म की ओर प्रेरित होने में इससे बहुत सहायता मिली। यदि विचारात्मक दृष्टि से देखें तो यह हमारे ऋषियों की जनोपकार वाली भावना का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

यद्यपि अभी भी शैव, वैष्णव आदि का विवाद कट्टर पंथी लोग चलाये बिना नहीं मानते। वरन् एक ही देवता के उपासकों ने अनेक-अनेक सम्प्रदाय खड़े कर लिये हैं। किन्तु यह विभिन्न सम्प्रदाय देश की एकता में भी किसी न किसी रूप में व्यवधान उपस्थित करते रहे हैं। राष्ट्र को

संगठित करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उन मतमतान्तरों को दूर करने की दशा में कदम उठाये जाते रहें।

शिव भक्त कहते रहे हैं कि परमात्मा तो एक मात्र शिव ही हैं, विष्णु आदि सभी देवता उनके सेवक। इसके विपरीत विष्णु भक्त विष्णु को ही परमात्मा मान कर शिव आदि को उनका सेवक कहते रहे हैं। किन्तु जिन्होंने इन सब देवताओं को अभिन्न बताया, उनकी सूझबूझ अवश्य ही प्रशंसा के योग्य है। उनके अनुसार शिव भी विश्ववन्द्य हैं और विष्णु भी।

फिर देवता ही क्यों? प्रत्येक शरीरधारी में हो आत्मा रूप से एक ही परमात्मा विद्यमान है। जब आत्मा-परमात्मा में भेद नहीं, तब शिव, विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र आदि में ही भेद क्यों होना चाहिये। यह मान्यता यद्यपि प्राणि मात्र में अभेद का प्रतिपादन करती है, जिससे इतनी स्वीकारोक्ति तो होनी ही चाहिये कि मानव-मात्र में कहीं कोई भेद नहीं है।

यद्यपि जो लोग हठधर्मी का आश्रय लिये हुए हैं, वे किसी भी तथ्य को स्वीकार नहीं करना चाहते। उनका उद्देश्य अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग अलापना रहा है। किन्तु इससे मानव जाति का, समाज का और राष्ट्र का भी क्या कुछ हित-साधन हुआ है, यह एक विचारणीय विषय है।

हम अनेक तथ्यों के आधार पर कह सकते हैं कि मानव-वंश का आरम्भ हिंदू जाति से ही हुआ है, इसने उत्तरोत्तर अपना फैलाव किया और देश, काल एवं परिस्थितियों कारण मान्यताओं में परिवर्तन होते रहे। लोग अपने स्वरूप को स्वयं ही भूल गये। उन्हें न अपनी उत्पत्ति का ध्यान रहा, न वंश का और न धर्म का ही। इस कारण न जाने कितनों ने अपने धर्म को छोड़ दिया, अपने अचार-विचार को छोड़ दिया और अपने आराध्य को भी। देश, काल और परिस्थितियों के प्रभाव से

होने वाले यह परिवर्तन स्वभाव में आ गये। हम यह नहीं कह सकते कि इस प्रकार के परिवर्तनों में उनका कुछ दोष रहा होगा। क्योंकि उसकी पृष्ठ भूमि में अनेक कारण हो सकते हैं। कहीं बल पूर्वक परिवर्तन हुए, कहीं धन और पद आदि की सुविधाओं के लोभ में। कहीं अपनों से ही तिरस्कृत होने के कारण हमारे अपने ही लोग हमसे बिछुड़ते ही चले गये। आज विधर्मियों की जो बहुत बड़ी संख्या दिखाई देती है, वह सब बनी हुई है, हमसे ही विघटित होकर उस रूप में सामने आ गई है।

हिन्दू समाज में सामञ्जस्य

वर्ण-व्यवस्था की उपादेयता

इस प्रकार के विघटन ने ही आज हिन्दू समाज को छिन्न-भिन्न होने दिया है। हमारी प्राचीन कालीन मान्यताएँ वर्तमान मान्यताओं से भिन्न थीं। हमारे यहाँ जातियों का निर्माण गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर हुआ था। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं था कि हम किसी को नितान्त हेय ही समझते रहे। हम किसी को दुत्कारें और उसके कष्ट की बातें भी न सुनें। ऐसा हमारे किसी भी धर्मशास्त्र ने निर्देश नहीं दिया है कि हम किसी को इतना नीच मानें कि उसकी छाया से भी दूर भागें। हम जिस मार्ग पर, चलते हैं, उस पर चलने से भी उसे रोक दें। कहें कि इधर न आना, तुम्हारे यहाँ आने से ही स्थान अपवित्र हो जायगा। तुम्हारे शरीर की छाया भी हमको नरक में धकेल देगी।

हम नही कहते कि आप जिसे अस्पृश्य समझते हो, उसके साथ बैठ कर भोजन ही करें, अथवा शादी-विवाह करने लगें। क्योंकि खान-पान और शादी विवाह आदि का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह सब अपनी-अपनी इच्छा और रुचि पर निर्भर करता है। किन्तु हम यह तो कह ही सकते हैं कि मनुष्य को मनुष्य समझो। उसे उतना तिरस्कृत न करो, जितने से कि वह विरोधी बन कर ही सामने आ खड़ा हो।

यदि कोई ऐसा करता है तो वह समाज को विघटन की ओर धकेलने का प्रयत्न करता है। चाहे वह उस बात को उस रूप मे समझ न पाता हो। वस्तुत: समाज का तात्पर्य उस संगठन से है, जिसमे सभी परस्पर प्रेम भाव का व्यवहार रखते हैं और कोई किसी का तिरस्कार न करता हो। जिसका जो कार्य है, वह उसे करे, किन्तु सम्मान पूर्वक। उसके कार्य के प्रति किसी प्रकार की घृणा व्यक्त न की जाय।

किन्तु जिन लोगों की आजीविका छोटे कार्यों पर निर्भर है, उन्हे भी अपनी परिस्थितियों का ध्यान रखना चाहिये और ऐसा कोई कार्य न करना चाहिये, जिसके कारण दूसरे लोगो पर स्वाभाविक रूप से कुछ विपरीत प्रभाव पड़ता हो। कुछ लोग जान-बूझ कर दूसरो की भावनाओ को ठेस पहुँचाने के लिये ही हठधर्मी कर बैठते हैं, जो कि अनुचित है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को मनुष्य समझो और सभी को सम्मान दो। पीडक और पीडित कहे जाने वाले, दोनो ही प्रकार के लोग हठधर्मी का त्याग करें तो समाज के बचने मे सहायता मिल सकती है। किसी भी समूह को समाज तभी कह सकते हैं जब परस्पर के दुःख-सुख मे एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति हो। भिन्न-भिन्न जातियो, वर्गों, वर्णों के लोग जब परस्पर में निकटता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, तब समाज टूटने से बहुत कुछ बच जाते है। आधुनिक समय मे तो समाज क्या, परिवार तक टूटने के कगार पर पहुँच जाते हैं और जब

परिवार ही टूटते हैं तब समाज को टूटने से बचाने की बात कोरी कल्पना मात्र ही रह जाती है।

विभिन्न समूहों के व्यक्तियों मे जितना अधिक प्रेम बढ़ेगा, उतना ही संगठन दृढ़ होगा। इसके लिये अस्पृश्यता, आदि के विषय में जो कट्टरता व्यवहार में लाई जाती है, उसके प्रति मन में कुछ उदारता लानी होगी। क्योंकि मनुष्यों का उदार दृष्टिकोण अनेक समस्याओं के हल में सहायक होता है और समाज के अग्रगण्यों, नेताओं में ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है।

और हम इस बात का अनुभव कर रहे हैं कि प्राचीन काल में जिन महर्षियों ने समाज-निर्माण के लिये धर्म की व्याख्या की और तदनुरूप नियमों को बनाया। उसमें यह ध्यान भी रखा गया कि भावनात्मक दृष्टि से समाज में प्रायः एकरूपता बनी रहे। वे सभी में एक प्रकार की ऐसी क्षमता स्थापित करना चाहते थे कि जिससे लोगों में संगठन बना रहे। उन्होंने तन, मन, वचन आदि से कभी कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जिससे किसी को उन विचारों से असहमति हो। लोगो ने प्रसन्नता से उस समय वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की परिभाषा उन-उनके कार्य-कलापों पर निश्चित हुई। शूद्रों ने अपने से भिन्न तीनों जातियों को अपने से अधिक सम्मान दिया। ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होने का कारण उनकी निस्पृहता और प्राणि-मात्र के प्रति कल्याण-भाव ही थी। उस युग के ब्राह्मणों ने अपने से इतर जातियों के प्रति असम्मान कभी भी व्यक्त नहीं किया, यहाँ तक कि शूद्रों के प्रति भी घृणाभाव उनमें नहीं था।

क्षत्रियों ने समाज की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। उनका कार्य नितान्त जोखिम भरा रहा है। वे प्रजा और धर्म की रक्षा के लिये अपने प्राण तक न्योछावर कर देते थे। उनके विषय में यह कहना कठिन था कि कब जीवन से हाथ धोना पड़े। उनका वैभव भी राज्य की रक्षा

का साधन होता था। उनका न्याय सभी जातियों के लिये था, जिसमे वे कभी कोताही या पक्षपात नही करते थे। इतिहास बताता है कि कुछ राजाओ ने तो अपने पुत्रो को भी दण्डित किया था उनके अपराध पर। इससे स्पष्ट है कि क्षत्रिय जाति का जो कार्य था, वह अपने ढंग का अनोखा था।

वैश्यो का कार्य था कृषि और व्यवसाय। राष्ट्र की आय के यही मुख्य साधन हैं। इन्ही के द्वारा खान-पान तथा अन्यान्य जीवनोपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति हो सकती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र तीनो की आर्थिक रीढ वैश्य जाति ही रही है। यह जो धन-संचय करती, उसे राष्ट्र-हित, समाज-हित मे लगाती थी। राणा प्रताप को युद्ध के लिये धन की आवश्यकता हुई तो भामा-शाह ने बिना मागें अपना सभी धन उनके समक्ष रख दिया था।

शूद्र जाति ने उक्त तीनो वर्णों की सेवा का भार अपने ऊपर क्यो लिया था? क्या उन पर कोई दबाव था इसके लिये? इस प्रश्न के भीतर गहरे जाते हैं तो उत्तर मिलेगा कि किसी प्रकार का दबाव नही था। वे उसी कार्य को कर सकते थे, इसलिये वह भार स्वेच्छा से स्वीकार किया था। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वे प्रताडना अथवा असम्मान के योग्य थे। वे भी अपने कर्त्तव्य के प्रति पूर्ण रूप से निष्ठावान रहे हैं, इसलिये यदि उनके प्रति असम्मानजनक व्यवहार किया जाय तो वह कोई अच्छी बात नही होगी। क्योकि हिन्दू-समाज का विभाजन चार अगो के रूप मे हुआ था। यदि उसका एक अंग उपेक्षित रहे तो उसकी चौथाई शक्ति तो प्रत्यक्ष रूप मे ही घट जाती है। इस पर भी यदि वे विधर्मियो के हथकण्डो से विधर्मी बन जाते हैं तो उससे और भी अधिक हानी हो सकती है।

वैदिक काल और वर्ण-भेद

वैदिक काल में भी वर्ण भेद तो रहा ही था, किन्तु उसका तात्पर्य

ऊँच, नीच या स्पृश्य, अस्पृश्य समझने से नहीं था। जब हम गन्दे रहते हैं तब स्वयं ही स्वच्छ होने की इच्छा करते हैं। इसलिये अस्पृश्यता की सीमा भी प्रायः गन्दगी तक ही रहनी चाहिये। जब स्वच्छ हों, शुद्ध वस्त्र धारण किये हों, तब वह निषेध भी किसी सीमा तक समाप्त हो जाता है। ऋग्वेद की मान्यता इस विषय में विचारणीय है—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

अर्थात्—"एकत्र होओ, एक साथ समान रूप से उच्चारण करो, समान मन वाले होओ। जैसे देवगण समान गति से यज्ञों में एकत्र होते हैं, वैसे ही तुम भी समान मति वाले होकर अन्न धन्नादि का ग्रहण करो।

और यह भी मानना होगा कि पहिले वर्ण भेद या जाति भेद नहीं था। आरम्भ में ब्रह्मा हुए और ब्रह्मा से उत्पन्न हुए समस्त शरीरधारी। इसका अर्थ है कि जाति-भेद तो बाद में ही हुआ। वेद नहीं, रामायण, महाभारत, भागवत प्रभृति महापुराण और कुछ पुराण भी आरम्भ में तो एक ही वर्ण होने की मान्यता रखते हैं। गीता में स्पष्ट रूप से कहा था श्रीकृष्ण ने कि गुण, कर्म के विभाग से ही जातिगत विभाग की अपेक्षा हुई।

वस्तुतः समय के अनुसार ही परिस्थितियाँ बनती है। जब जैसी आवश्यकता होती है, तब वैसे ही कार्य करने होते हैं मनुष्य को। कार्य का यह विभाजन केवल भारतवर्ष में ही हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। पाश्चात्य देशों या अन्यान्य देशों में भी उसी प्रकार का विभाजन है ही। वहाँ भी सफाई करने वाले (स्वीपर) हैं ही, किन्तु उनके प्रति भी असम्मान की भावना किसी में नहीं रहती। हमारे देश में विरोधी भावना का मुख्य कारण व्यवहार में असामंजस्य का होना है। यदि हम इस

विषय मे कुछ सावधानी और उदारता से काम लें तो समाज के सगठन मे बहुत बडा कार्य कर सकते है।

वर्ण व्यवस्था की एक कसौटी थी। अधिक ईमानदार, सत्यवक्ता, सतोगुणी प्रवृत्ति का मनुष्य ही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता। जिनके स्वभाव मे उग्रता होती, जो लडाई-झगडे मे अधिक दिलचस्पी रखते थे, वे क्षत्रिय और धनोपार्जन तथा सचय की वृत्ति वाले लोग वैश्य कहलाते थे। जो लोग इनमे से कोई भी कार्य नही कर सकते थे, बुद्धि या शक्ति की दृष्टि से जिनमे उक्त कार्यों के करने की प्रवृत्ति नही थी वे सेवा-वृत्ति अपनाते थे, इसलिये शूद्र कहे जाते थे।

शास्त्रों में गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण भेद का स्पष्टीकरण

वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध मे अनेक ग्रन्थो मे ऐसे विचार देखने-सुनने को मिलते हैं। महाभारत मे ही विभिन्न स्थानो पर वर्ण व्यवस्था के प्रति गुण, कर्म, स्वभाव को ही मुख्य रूप से उजागर किया गया है। उसके आदि पर्व, वन पर्व, अनुशासन और शान्ति पर्वों मे इसके स्पष्ट सकेत मिलते हैं।

एक बार भारद्वाज ने महर्षि भृगु से प्रश्न किया कि मनुष्यो के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बनने की प्रक्रिया क्या है ? तो वे उत्तर देते हैं कि ब्राह्मणत्व की प्राप्ति तभी हो सकती है जब मनुष्य सदाचारी, सत्यपरायण और वेदाध्ययन करें। इन गुणो के न होने पर ब्राह्मण होना सम्भव नही। क्षत्रिय वह हो सकता है जिसमे शात्र तेज-युद्ध का उत्साह साहस, प्राणो के प्रति अमोह और प्रजापालन आदि गुणो का समावेश हो। तात्पर्य यह कि जो मनुष्य कायर न हो, अपनी आन-बान पर, अपने वचन पर दृढ रह सके और प्रजा के सुख-दुःख का साथी हो सके, ऐसा न्यायवान और उदार दृष्टि-कोण वाला मनुष्य ही क्षत्रिय

कहा जा सकता है। वैश्य कहलाने का अधिकार उसे है जो खेती करे, गौओं को पाले न्याय पूर्वक क्रय-विक्रय द्वारा धनोपार्जन करे। जो वेदाध्ययन, शास्त्र-श्रवण आदि से दूर रहे, भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करे तथा अमंगल दिनचर्या वाला हो, वह शूद्र कहलाने का अधिकारी है।

यही वर्ण-व्यवस्था की पृष्ठ भूमि रही है पुरातन काल से। महर्षि भृगु ने एक महत्वपूर्ण बात यह भी कही थी कि यदि किसी शूद्र में सत्य, तपश्चर्या, विद्या आदि गुण हों तो वह भी ब्राह्मण ही है। इसके विपरीत, यदि किसी ब्राह्मण में इन गुणों का अभाव हो तो वह ब्राह्मणत्व से गिर कर शूद्र हो जाता है। आचरण के अनुसार ब्राह्मणत्व से गिरने सम्बंधी वर्णन भी अनेक ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

आचरण ही मानव स्वभाव का प्रतीक है। जो स्वभाव में होता है, वही गुण रूप है, उसी के अनुसार मनुष्य कर्म करता है। जिस वर्ण के लिये जो कर्म निर्दिष्ट है, उसे न करने से वह अपने वर्ण से गिर या उठ सकता है।

इस सम्बन्ध में भीष्म पितामह ने बहुत स्पष्ट एवं कठोर व्यवस्था दी। उनका कथन था कि 'जो ब्राह्मण अपने ब्राह्मणोचित गुणों से हीन हो, उसे दास समझा जाय, दास के समान ही उसकी भोजन-व्यवस्था की जाय और उसे बाँध कर रखा जाय।

इसका तात्पर्य है कि ऐसा ब्राह्मण अपने वंशगत स्वभाव से गिरने के कारण ब्राह्मणत्व से वंचित हो जाता है। इसलिये वह अपने पूर्वजों के अधिकार का भी प्रयोग नहीं कर सकता। महाभारत में ही भृगु या भीष्म पितामह के वचनों से ही नहीं, भगवान् शकर के वचनों से भी यह तथ्य इसी प्रकार मान्य होता है। अनुशासन पर्व में, जहाँ शिव-पार्वती संवाद आता है, शिवजी स्वयं ही शूद्र को ब्राह्मणत्व-प्राप्ति के अधिकार

के विषय मे कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य हीन शूद्र वंश मे उत्पन्न हुआ हो और वह आगम ग्रन्थो मे पारगत हो जाय तो सस्कार से ब्राह्मण ही माना जायगा।'

और जब भगवान् शंकर ने ऐसी व्यवस्था दी है तो उसमे कुछ कारण भी होना चाहिये। क्यो दी गई ऐसी व्यवस्था? जबकि उस प्रकार की कोई घटना घटित हुई होगी। कोई शूद्र आगम शास्त्र का अध्येता हो गया होगा और उसके आचरण मे सत्य आदि का समावेश रहा होगा तभी ऐसा कहना पडा होगा भगवान् शंकर को। इसका तात्पर्य यह भी है कि उस युग मे सम्भवत: ऐसी प्रथा रही हो कि ब्राह्मणत्व के आचरण से गिरने पर कोई शूद्र हो जाता हो और शूद्रत्व से उठ कर, कोई ब्राह्मणत्व के गुणो से युक्त होने पर ब्राह्मण बन जाता हो। क्षत्रिय और वैश्य बनने मे भी सम्भव है कि यह कसौटी व्यवहार मे लाई जाती रही हो। किन्तु बाद मे वह व्यवस्था किसी कारणवश समाप्त कर दी गई हो। क्योंकि कोई भी व्यवस्था देश, कालानुसार ही प्रचलन मे रहती है।

ऐसी व्यवस्था महाभारत मे ही रही हो, ऐसा नही है। अन्य ग्रन्थो मे भी हम इसे देखते हैं। ब्रह्मपुराण को ही लीजिये, जिसके अनुसार जो जैसा कर्म करता है, उसी वर्ण का बन जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णो की प्राप्ति उसके अनुरूप कर्म करने पर होती है। ब्राह्मण अपने से निम्न वर्ण मे जा सकता है तो शूद्र भी ब्राह्मण बन सकता है।

कुछ ग्रन्थो मे तत्सम्बन्धी प्रमाण भी घटनात्मक रूप मे उपलब्ध है— मनु का कथन है कि अक्षमाला और सारगी नामक स्त्रियाँ नीच योनि मे उत्पन्न हुई थी, किन्तु वे वसिष्ठ और मदमाल नामक ऋषियो के साथ विवाही गई। वही अक्षमाल अरुन्धती हुई, जिसे विवाह के अवसर

पर सभी भारतीय वर-वधू प्रणाम करते हैं। क्योंकि वह सभी के लिये पूजनीय बन गई।

वर्ण-व्यवस्था विवाहादि में बाधक नहीं रही—

स्त्रियों के विषय में ही नहीं, पुरुषों के विषय में भी ऐसे घटनात्मक विवरण उपलब्ध हैं, जो वर्तमान कालीन वर्ण व्यवस्था सम्बन्धी विचार-धारा को अमान्य करते हैं। ताण्डय ब्राह्मण में एक वृत्तान्त उपलब्ध है कि कण्व नामक ब्राह्मण-वंश में वत्स और मेधातिथि हुए हैं, इनमें वत्स की माता शूद्र कुल से उत्पन्न थी। इस कारण मेधातिथि ने वत्स से कहा था कि तू अपनी माता के कारण शूद्र है, ब्राह्मण नहीं हो सकता। यह सुनकर वत्स ने अग्नि प्रज्वलित की, किन्तु अग्नि ने उसे दग्ध नहीं किया। इससे यह निष्कर्ष निकला की वह शूद्र नहीं, ब्राह्मण है।

प्राचीन गाथाओं से अनेक महर्षियों की उत्पत्ति जिन माताओं से हुई वे शूद्रा थीं। कोई वेश्या थी तो कोई धीवर-कन्या। ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महर्षि महीदास का जन्म इतरा नाम की शूद्र स्त्री से हुआ था वेदव्यासजी धीवर की कन्या सत्यवती से उत्पन्न हुए थे, वसिष्ठ भी एक वेश्या के पुत्र थे, पराशर ऋषि की माता एक चाण्डाली थी। वस्तुतः यह सब महापुरुष थे। और भी बहुत-से महापुरुषों के जन्म सम्बन्धी उदाहरण दिये जा सकते हैं, किन्तु अधिक प्रकाश डालने की अपेक्षा नहीं है।

किन्तु यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि मनुष्यों में सवर्ण-विवाह का ही बन्धन रहा हो। कोई भी वर्ण वाला पुरुष किसी भी वर्ण में उत्पन्न हुई कन्या से विवाह कर सकता था। किन्तु मनुस्मृति के अनुसार यह भी प्रतीत होता है कि नीचे वर्ण का पुरुष ऊँचे वर्ण में उत्पन्न कन्या से विवाह करने का अधिकारी नहीं था। किन्तु जब वर्ण व्यवस्था गुण,

कर्म पर निर्भर थी, तब जन्म वाले वर्ण का अधिक महत्व स्वीकार कैसे किया। जा सकता था ? महाभारत-काल मे तो सभी कुछ अव्यवस्थित हो गया था। वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी सामाजिक मान्यताएँ भी उससे प्रभावित हुए बिना न रह सकी थी।

महाभारत मे नहुष और युधिष्ठिर का संवाद मिलता है। युधिष्ठिर कहते है कि यह समय वर्ण संकरता काहे, इसलिये किसको कौन-सी जाति है, इसका निश्चय किया जाना कठिन ही है। सब वर्णो की स्त्रियों मे सब लोग सन्तोनोत्पत्ति करने मे लगे है, तब किसे ब्राह्मण कहे ? फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि जो शील स्वभाव का और सदाचारी हैं, वह ब्राह्मण है।

ब्राह्मण की कसौटी काठ महिता के अनुसार इस प्रकार है कि ब्राह्मण वही सिद्ध हो सकता है जो ज्ञान और तपश्चर्या युक्त श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हो। इसलिये कौन किसका माता-पिता हैं, यह प्रश्न अनावश्यक है। वस्तुतः ब्राह्मण का पिता और पितामह वेद ही है।

इस प्रकार भारत का इतिहास डके की चोट कहता चला आ रहा है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म नही, कर्म होना चाहिये। और कर्म के अनुसार ही मनुष्य समाज में अपना स्थान बना पाता है। आज भी कोई उच्च वर्ण का व्यक्ति नीचे या निन्दनीय कर्म करता है तो हेय दृष्टि से देखा जाता है। फिर भी सामाजिक दृष्टि से हम जन्म को ही जाति का माप-दण्ड बनाये हुए हैं। आज का वर्ण-भेद प्राचीन-काल मे उतना प्रबल नही माना जाता था। वरन् वर्ण-भेद का स्थान वर्ग-भेद ने ले रखा था।

क्षत्रिय भी मन्त्र द्रष्टा रहे हैं—

वेद-द्रष्टा ऋषि भी ब्राह्मण ही हुए हों, ऐसा नही है। उनकी अनेक

ऋचाएं क्षत्रियों या अन्य वर्ण वालों ने रचीं। विश्वामित्र और उनके पुत्र मधुच्छन्दा द्वारा रचित मन्त्र वहाँ उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के पहले मण्डल की पहिली ऋचा ही मधुच्छन्दा द्वारा रची गई थी। प्रथम से दसवें सूक्त तक का रचयिता मधुच्छन्दा स्वयं ही है। राजा पुरूरवा एक प्रसिद्ध चन्द्रवंशीय क्षत्री हुआ है. उसने भी अनेक मन्त्रों की रचना की थी। राजा शान्तनु का भाई देवापी पुरोहिताई भी करता था और उसने मन्त्र भी रचे थे। इनके अतिरिक्त और भी लोग मंत्र रचना करते रहे हैं।

ऋग्वेद के ही दसवें मण्डल के चौरानवे सूक्त का रचयिता काद्रवेय (कद्रु नाग का पुत्र) अर्बुद था। सूक्त पिचानवे की रचना पुरुरवा ऐल ने ही नहीं, उर्वशी ने भी की थी। यदि हम ऋग्वेद को देखें तो पता चलेगा कि उनके विभिन्न सूक्तों के रचनाकार केवल ब्राह्मण ऋषि ही नहीं रहे, अन्य वर्ण वाले भी रहे हैं।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही वर्ण के मनुष्य मन्त्र द्रष्टा रहे हैं। वस्तुतः क्षत्रिय भी ब्रह्मज्ञानी रहे हैं और उन्होंने ब्राह्मणों को भी ज्ञानोपदेश किया है। कौन नहीं जानता कि राजा जनक ने व्यास पुत्र शुकदेवजी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया था। काशी-नरेश अजात शत्रु भी एक ब्रह्मज्ञानी क्षत्रिय रहे, जिन्होंने गार्ग्य नामक जिज्ञासु ब्राह्मण को ब्रह्म विद्या की शिक्षा दी।

क्षत्रिय वंशीय जीवल के पुत्र राजा प्रवाहण ने गौतम नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण को ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया था, यह तथ्य बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट रूप से मिलता है। इसी राजा प्रवाहण ने शलावत के पुत्र शिलक से ज्ञान प्राप्त किया था और दाल्भ्य वंशीय चैकितायन ब्राह्मणों ने भी प्रवाहण से ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश लिया था।

इस प्रकार अनेक क्षत्रिय ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्म विद्या के उपदेशक रहे

हैं। गृहस्थ धर्म से निवृत्त होने पर क्षत्रिय सन्यास लेकर राजर्षि की उपाधि प्राप्त करते रहे और उनका सम्मान भी ब्राह्मण महर्षियो से किसी भी प्रकार कम नही रहा।

क्षत्रिय भी उच्चकोटि के विद्वान रहे हैं–

राजधर्म का पालन करते हुए भी अनेक क्षत्रिय राजा ब्राह्मणो की अपेक्षा किसी भी प्रकार कम विद्वान नही रहे। अनेक ब्राह्मणो को उनके पास उसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करने जाना पडा, जिस प्रकार कि शिष्य गुरु के पास जाते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् मे राजा अश्वपति का एक वृत्तान्त उपलब्ध है, यह राजा केकय नरेश के पुत्र और क्षत्रिय था। इसकी सेवा मे पाँच ब्राह्मण शिष्य रूप से उपस्थित हुए, जिन्हे उसने ब्रह्मज्ञान के उपदेश से कृतार्थ किया।

क्षत्रिय जब राज-रक्षा के कार्य मे नियुक्त रहते थे, तब अपने प्राण हथेली पर लिये फिरते थे। देश और प्रजा की रक्षा करना उनका अनिवार्य कर्तव्य था। किन्तु उनकी विद्वता भी असन्दिग्ध रही है। और वे जप, तप, उपासना, मन्त्र-रचना, योगादि मे भी पीछे नहीं रहे। वे कर्मनिष्ठ क्षत्रिय अपेक्षा होने पर पौरोहित्य भी करते रहे हैं।

फिर, क्षत्रिय ही क्यो, वैश्य भी ज्ञानवान और कर्त्तव्य परायण रहे हैं। वे भी ब्रह्मज्ञान मे पारगत रहे, उन्हे उसका अधिकार भी था। यहाँ तक कि शूद्रो को भी ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का निषेध नही था। तैत्तरीय संहिता मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'तू अपना तेज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी मे स्थापित कर।' इसका तात्पर्य है कि परमात्मा का तेज सभी वर्णों मे विद्यमान है तो उनमे ऊँच-नीच की भावना वर्ण-व्यवस्था के आधार पर क्यो हो? उसे तो बुद्धि के आधार पर होना चाहिये, गुण-कर्म के आधार पर होना चाहिये।

यह भी प्रमाण मिलता है कि राजाओं के मंत्रि-परिषद् में भी शूद्रों को स्थान मिलता था। महाभारत में ही भीष्म पितामह का मत रहा है कि चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य और तीन शूद्र मंत्री होने चाहिये, एक सूत मंत्री हो। इस प्रकार सैंतीस मंत्रियों की परिषद् में, शूद्रों का प्रतिनिधित्व भी ब्राह्मण से एक ही कम संख्या में रहता था।

किन्तु यह बात सभी शास्त्रों में बार-बार कही जाती रही है कि शूद्र का धर्म तीनों वर्णों की सेवा करना है। यद्यपि इस निर्देश का उद्देश्य समाज को एक प्रकार से व्यवस्थित करना था, किन्तु बाद में जिसके मन में जैसा उचित लगा, वैसा ही अर्थ कर डाला। इसका परिणाम समाज के हित में कुछ ठीक नहीं निकला। क्योंकि शूद्रों को बहका कर अपने धर्म में मिलाने के इच्छुक लोग सक्रिय होते रहे और उन्हें अपने प्रकार के प्रलोभनों में आकर्षित करने लगे।

किन्तु हिन्दुओं ने अपने हृदय में कुछ उदारता नहीं रखी। उन्होंने ऐसा माना कि शूद्रों में मलीनता (गन्दगी) रहने के कारण उन्हें धर्म-शास्त्रों के पढ़ने का भी अधिकार नहीं। इसी मान्यता के आधार पर उनके लिये वेदादि धर्म शास्त्रों के पठन-पाठन का निषेध किया गया और मन्दिर आदि पवित्र स्थानों में प्रवेश भी वर्जित रखा गया, जिससे कि उनकी छाया भी देव-प्रतिमा पर न पड़ सके।

इस मान्यता में एक कारण भी बताया गया कि शूद्र लोग गन्दे रहते हैं और उनके हाथ आदि का स्पर्श सदैव मल-मूत्र से रहता है। वस्तुत: यह कार्य कुछ ऐसा है, जिसे आदत पड़ने से वे ही कर सकते हैं, दूसरे लोग नहीं कर सकते। वे उस कर्म को करते हैं इस भौतिकवादी युग में, यह भी कुछ कम महत्वपूर्ण बात नहीं है, इसलिये उनके कर्म में कर्त्तव्य-पालन की भावना निहित रहने के कारण उनके प्रति अधिक उदारता का व्यवहार किया जाना चाहिये, न कि घृणा का।

यदि मान भी लें कि मल-मूत्र की सफाई करने वाले शूद्रों को भगवान् के दर्शन, पर्शन आदि का अधिकार न भी रहे तो जो लोग मल-मूत्रादि की सफाई के कार्य मे नही रहते—धोबी, लोहार, आदि, वे क्यों शास्त्रो के पढने आदि के अधिकार से वंचित रखे गये ? यह बात समझ मे नही आती। शास्त्रकारो ने 'शूद्र' शब्द को इतना व्यापक बना दिया है कि उसमे कुम्हार, मल्लाह, तेली-तमोली, बढई, लुहार, महार, चमार, नाई आदि बहुतों को उसके भीतर मान लिया है। कुछ स्मृतिकारो ने तो किसानो को, वणिको को और कायस्थों तक को इसी में सम्मिलित कर लिया है। बाद मे तो यहाँ तक हुआ कि शूद्रा स्त्री मे उत्पन्न उच्च वर्ण वालों सन्तान भी इससे बची न रह सकी।

अब जरा सोचें कि खेती, गोरक्षा और वाणिज्य यह तो वैश्यो के कर्म है (कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वाभावजम्) तो फिर किसानों को शूद्रों मे मानने का क्या औचित्य है ? क्या यह शास्त्रकारों का भ्रम रहा अथवा पारस्परिक विद्वेष से किन्हीं विद्वानो ने ऐसी मान्यता बनाली ?

इससे भी बढ कर एक अन्य मान्यता बनी कि 'जो लोग राज्य शासन करते हैं—राजा कहलाते है, वे सब शूद्र हैं।' ईसा की पूर्व चतुर्थ शती के पश्चात् शिशुनाग वंशीय राजा महानन्दी का महापद्मनन्द नामक पुत्र शूद्रा रानी से उत्पन्न हुआ था, जिसने क्षत्रियों को मार डाला और तब विश्व मे क्षत्रिय जाति का लोप वैसे ही हो गया, जैसे परशुराम के द्वारा हुआ था। तब एक इस मान्यता ने जोर पकडा कि 'कलियुग मे दो ही वर्ण रह गये ब्राह्मण और शूद्र।'

इस प्रकार विश्व मे दो ही वर्ण शेष रह गये। किन्तु मनु ने एक और व्यवस्था दी कि जिस देश का राज्य शूद्र राजा करता हो, वहाँ ब्राह्मण को नही रहना चाहिये। यदि शूद्र राजा के राज्य मे ब्राह्मण रहता है तो वह अवश्य ही अपने वर्ण से पतित हो जायगा।

अब अनुमान कीजिये कि किसी भी देश का राजा क्षत्रिय नहीं रहा तो उस देश में रहने वाले ब्राह्मण के ब्राह्मणत्व पर भी आँच आती है। इसके फलस्वरूप क्या ब्राह्मण भी ब्राह्मण रह सके होंगे? यदि मनु के निर्देश को मानते हैं तो एक ही उत्तर होगा कि 'नहीं।' इस प्रकार ब्राह्मण भी नाम मात्र के ही रह जाने चाहिये।

शास्त्रकार स्त्रियों को भी शूद्र मानने लगे। उन्हें जो वेदाधिकार था, वह भी उनसे ले लिया गया। पता नहीं, ऐसी धारणा क्यों बनाई गई? किन्तु इससे हिन्दू जाति का और भारतवर्ष का भी कुछ लाभ हुआ हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। यद्यपि हिन्दू जाति सदा ही सहिष्णु रही है, विशेष कर धर्म और उपासना के विषय में। जिसका जिस देवता में अथवा ईश्वर के जिस रूप में विश्वास हो, वह उसी की उपासना के द्वारा मोक्ष का भागी बन सकता है। जब इस्लाम या क्रिश्चियन आदि की यह मान्यता रही है कि केवल अल्लाह अथवा ईसा की शरण लेने पर ही मनुष्य का उद्धार सम्भव है। उनके अपने-अपने सम्प्रदायों में कुछ कट्टरता भी है, जबकि हिन्दू-धर्म में वैसी कोई कट्टरता नहीं मिलती। कोई शिव का उपासक है, वह राम, कृष्ण, हनुमान आदि के समक्ष नत-मस्तक हो अथवा उनका पूजन करे तो उसे इसके लिये किसी प्रकार के निषेध का सामना नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार राम-भक्त शिव की अथवा किसी भी अन्य देवता की उपासना कर सकता है।

वस्तुतः हिन्दुओं की यह उदार वृत्ति ही है। गाँधी जी ने भी इसी उदार वृत्ति का परिचय देते हुए राम, कृष्ण, अल्लाह, ईश्वर सभी को एक बताया। उनसे पहिले भी अनेक विद्वान् इसी तथ्य का प्रतिपादन करते रहे हैं, जो कि है भी सत्य। इस सत्य में कभी किसी को विरोध नहीं रहा। क्योंकि यह समस्त जीव-समुदाय एक मात्र परब्रह्म परमात्मा का ही अंशभूत है।

और यही मान्यता हिन्दू-एकता एव सगठन के लिये सूत्र रूप से व्यवहृत होती रही है। यदि आज भी यह मान्यता व्यवहार रूप मे लाई जाती रहे तो देश के लिये और समाज के लिये कल्याणकारी सिद्ध हो सकती है।

हिन्दू सदैव एकता-बद्ध रहे हैं

ऋषि-महर्षियों की भूमिका–

हिन्दू जाति में धर्म की दृष्टि से कभी बिखराव नहीं रहा। हमारे महर्षियो ने उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक बहुत बडे भूभाग मे प्रसारित करने की दिशा मे बहुत कार्य किया। वस्तुत. ऐसी स्थिति मे जब कि लोगो के पास आवागमन के लिये कोई समुचित साधन नहीं थे, सडकें नही थी, सवारियाँ भी उनके पास ही रहती थी, जो उस समय धनवान कहे जाते थे। सभी के लिये न तो सवारी रखना सम्भव था, न उनमे कही जाने-आने की अधिक प्रवृत्ति ही थी।

यदि किसी को कही जाना ही होता तो प्रत्येक दिशा मे जाने के लिये दिन निश्चित थे। उन दिनों के अतिरिक्त उस दिशा मे जाना प्राय खतरे से खाली नही समझा जाता था। क्योंकि निश्चित दिन मे जाने से अन्य सहयात्री मिल जाते थे, इस कारण लोगो को समूहो मे चलने का अवसर मिलता था। अकेले जाने से जीव-जन्तु, चोर-लुटेरे आदि का भय हो सकता था। इसी दृष्टि से दिशाशूल की मान्यता ने जन्म लिया। *लोगो मे यह विश्वास जमाया गया है कि सोमवार या शनिवार को पूर्व* दिशा मे जाना अशुभ है। इसी प्रकार अन्य दिशाओ मे जाने के लिये

यद्यपि वर्तमान कालीन राष्ट्र-व्यवस्था से भिन्न थी, फिर भी उसके द्वारा शक्ति समन्वय को अवसर मिलता रहा है। वस्तुत: विभिन्न देशों का राष्ट्र रूप में उदय तो कुछ सौ वर्षों से ही हुआ है। फिर भी यह प्रणाली अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी कारण वर्तमान समय में बहुत-से देश राष्ट्र के रूप में संगठित होना ही ठीक समझते हैं।

खतरे के प्रति जागरूकता—

किन्तु राष्ट्र के संगठित होने में अनेक बातें अनिवार्य रूप से अपनाई जाती हैं। राष्ट्र में विभिन्न विचारधाराओं और सम्प्रदायों के लोग भी रहते हैं, किन्तु सभी के लिये यह आवश्यक होता है कि वे राष्ट्र के प्रति पूर्ण रूप से वफादार रहें। बहुसंख्यक लोग तो वफादार रहते ही हैं, क्योंकि राष्ट्र के आधार मुख्य रूप से तो वे ही हैं, किन्तु अल्प संख्यकों को भी राष्ट्र के प्रति वफादार रहना अनिवार्य होता है। यदि वे ऐसी भावना नहीं रखते अथवा किसी अन्य देश या राष्ट्र से लगाव रखते हैं तो उन्हें उस राष्ट्र की नागरिकता का अधिकार नहीं होना चाहिये। रहें एक देश में और वफादारी रखें अन्य देश से तो हो सकता है कि वे न जानें कब विश्वासघात कर बैठें।

हमारे देश में इन दिनों ऐसा भी कुछ होने की बात पढ़ी-सुनी जाती है, जिससे देश की सार्वभौमिकता और अखण्डता में खतरे के प्रति जागरूक रहना भी आवश्यक हो जाता है। क्योंकि यह देखना बहुत आवश्यक है कि कोई हमारे राष्ट्र की स्वतंत्रता के प्रति किसी प्रकार की खिलवाड़ तो नहीं करना चाहता।

राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है राष्ट्र के प्रति संगठित रहना। आवश्यक नहीं कि बहु संख्यक या अल्प सख्यक में भेद-भावना उत्पन्न ही हो, वरन् आवश्यक यह है कि उन सभी में, विशेष कर अल्प संख्यकों में राष्ट्र एवं राष्ट्रधर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा हो। जो इसमें निष्ठा नहीं रख

सकता, उसे कैसे कह सकते हैं कि वह हमारा है ? और जब हम अपने ही किसी अङ्ग को अपना नही कह सकते तो यह भी कैसे मान सकते हैं कि हमारा देश अथवा समाज सगठित है ?

हमे यह देखना चाहिये कि कौन मित्र है, कौन शत्रु है ? यदि हम इसकी परख नहीं कर सकते तो कभी भी धोखा खा सकते हैं, कभी भी सगठन से विगठन की ओर बढ सकते हैं। व्यक्तिगत राग-द्वेप तो हो सकता है, उससे अधिक अन्तर नही पडता, किन्तु यदि राग-द्वेप सामूहिक रूप से हो तो वह चिन्तनीय है। क्योंकि उससे समाज को, देश को, राष्ट्र को हानि पहुँच सकती है। हम अनेक बार कुछ ऐसे विरोध या पक्षपात की बातें कह बैठते हैं, जो लाभप्रद होने की अपेक्षा, कभी-कभी तो अधिक हानिकर सिद्ध होती हैं।

हमे यह देखना है कि क्या प्राचीन कालीन हिन्दू-समाज मे भी ऐसा होता रहा ? और तथ्यो से यह सिद्ध होता है कि यदि ऐसा न होता तो समाज न जानें कबका एक देश या एक राष्ट्र के रूप मे खडा हो गया होता। हिन्दुओ मे जहाँ धार्मिक भावना की प्रबलता थी, वहाँ अहकार वश फूट भी पर्याप्त रूप में रही है। न जानें कितने जयचन्द्र समय-समय पर इस देश का अहित करते रहे हैं। भारत वर्ष मे अनेको उच्च वश रहे हैं जो अपनी आन-बान पर प्राण देते रहे। कही वे वश किसी प्रकार एकता के सूत्र मे दृढता से बँधे रहते तो अवश्य ही इस राष्ट्र की समानता कभी कोई अन्य राष्ट्र नही कर पाता।

इससे हम यह कहे बिना नही रह सकते कि हिन्दुओ ने समाज-सगठन के उद्देश्य से अपने वशतत्व का अवलम्बन करने मे कोताही की, फिर भी उसमे शत्रु-नाश की आकाक्षा थी। वह शत्रु अपने भीतर भी हो सकते थे, बाहर भी। ऋग्वेद मे स्थान-स्थान पर ऐसी ऋचाएँ देखने को मिलती हैं, जिनमे शत्रुओ को नष्ट करने की प्रार्थनाएँ निहित हैं।

उनमें यहाँ तक कहा गया है कि शत्रुओं का धन छीन कर हमें दे दो। जो हमसे द्वेष करते हैं उनका पतन करो। कहीं-कहीं तो साम्यवादी विचारधारा भी मिलती है कि जिनके पास अनावश्यक धन है, वह उससे लेकर हमें दो। इन प्रार्थनाओं से एक तथ्य यह भी मालुम होता है कि साम्यवाद का मूल-स्रोत भी शायद ऋग्वेद हो ही रहा हो।

वेद मन्त्रों में राग-द्वेष की बातें बार-बार आती हैं, जिनसे यह मानना होगा कि प्राचीन हिन्दू समाज में भी परस्पर वैमनस्य किसी प्रकार कम नहीं रहा। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिये कि राग-द्वेष के भावों के साथ धार्मिक एकता का भी अभाव हो गया हो। जहाँ तक धर्म का प्रश्न है, हिन्दू सदैव एकमत रहे हैं, सभी का लक्ष्य ईश्वर रहा है। मार्ग भिन्न-भिन्न रहें तो कोई बात नहीं, गन्तव्य स्थान तो एक ही है।

राग अपने लोगों से, अपने मित्रों से होता है, जबकि द्वेष होता है विरोधियों और शत्रुओं से। हो सकता है कि वेदों में की गई शत्रु-नाश की प्रार्थनाएं उन लोगों के प्रति रही हों, जो उन दिनों विधर्मी अथवा अत्याचारी समझे जाते रहे हों। इस कारण हम यह नहीं कह सकते कि हिन्दुओं में परस्पर में कभी एकता नहीं रही। जहाँ स्वार्थ टकराते हों परस्पर वहाँ विद्वेष और एकमत न होने की सम्भावना रह ही सकती है, किन्तु धर्म के मामले में न तो विद्वेष आड़े आता है और न मत की विभिन्नता ही। इस आधार पर हम यदि यह कहें कि हिन्दू अपने धर्म के मामले में सदा एक रहे हैं तो यह कुछ अत्युक्ति नहीं होगी।

यज्ञ और देवता का अभिन्न सम्बन्ध–

अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों ने भी यह माना है कि में शत्रु-नाश के अभिप्राय से की गई प्रार्थनाएं अधार्मिकों के प्रति थीं, वे

चाहे इसी देश मे रहते हो और भयकर कर्म करने वाले, काले, कुरूप, जंगली अथवा असभ्य ही क्यो न रहे हो। अवश्य ही वे किसी न किसी रूप मे धर्म-विरोधी, समाज-विरोधी या अनाचारी रहे होगे।

वस्तुत: हिन्दू या आर्यों के ये शत्रु कौन हो सकते हैं ? यह प्रश्न भी अध्ययन करने पर अनुत्तर नही रह जाता है। जो लोग वैदिक-संस्कृति और अग्नि-उपासना रूप यज्ञादि से द्वेष करते थे, उनकी गणना ऐसे शत्रुओ मे की जा सकती है। रामायण आदि ग्रन्थो मे भी ऐसे अनेक प्रसग मिलते हैं कि खर-दूषण तथा अन्यान्य अत्याचारी, तामसी व्यक्ति यज्ञादि के विरोधी रहे हैं और वे ऋषि-मुनियों को उन कर्मों से तथा उपासनाओ से रोकते भी थे। उनके द्वारा यज्ञो के विध्वस करने की और ऋषि-मुनियों को उत्पीडित करने की घटनाएँ भी प्रकाश मे आती रहती थीं। हिन्दू या आर्य राजागण यज्ञो और मुनियो की रक्षा मे सदा ही प्रयत्नशील रहते थे।

अग्नि द्वारा यज्ञ, इन्द्रादि देवताओ का पूजन तथा इसी प्रकार अन्यान्य कर्म, उन अत्याचारियो की शक्ति घटाने या उन्हें नष्ट करने मे सबल उपाय का काम देते थे। इन कर्मों का तत्काल फल होता था, इसीलिये इनके अधिकता से किये जाने के प्रमाण उपलब्ध हैं।

वस्तुत: यज्ञ एक प्रकार की क्रिया अथवा अनुष्ठान ही नही था, वरन् वह एक देवता के रूप मे स्थान प्राप्त किये हुए था। इसलिये उन दिनो जो लोग यज्ञ का विरोध करते थे, वे देवता के—ईश्वर के भी विरोधी माने जाते थे। यज्ञानुष्ठान या यज्ञ का पूजन वेद मन्त्रो से ही किया जाता था, इसलिये जो लोग यज्ञ के विरोधी थे, वे वेदों से भी विरोध रखते थे। यह एक कारण ऐसा भी था कि जिससे वे लोग अधार्मिक माने जाते थे। आज भी जो लोग अनीश्वरवादी हैं, वे अधार्मिक कहलाने के अधिकारी हैं। क्योकि धर्म ईश्वर से जुडा है, जहाँ

धर्म है वहीं ईश्वर है। धर्म नहीं तो ईश्वर भी नहीं और ऐसे लोग कहते हैं कि हम क्यों मानें ईश्वर को जब अपने ही कर्मों का फल पाते हैं। हमारे जैसे कर्म, वैसा ही फल-भोग मिलेगा तो ईश्वर का कौन-सा उपकार है हमारे ऊपर ?

यज्ञों के साथ वेद मंत्र जुड़े थे, संस्कृत जुड़ी थी, देव-पूजन जुड़ा था। पंचदेव-पूजन और मातृका-पूजन आदि का विधान भी प्रायः सभी प्रकार के पूजनों और अनुष्ठानों में है। वेदों में विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया था, वेदों से ही ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों का आविर्भाव हुआ। धार्मिक जनों को उन सभी में आकर्षण था। सामवेद की गेयता ने अधिक आकर्षित किया लोगों को, उसके बाद महाकाव्यों और पुराणों की जो रचना संस्कृत भाषा में हुई, उससे भी कुछ कम प्रेरणा नहीं मिली। आर्ष ग्रन्थों, तन्त्रों, ज्योतिष, उपासना, कला आदि सबका आदि स्रोत संस्कृत ही है। दर्शन शास्त्र भी उसी में रचे गये। संस्कृत भाषा की इन रचनाओं के रचयिता किसी एक भूभाग, एक प्रदेश के ही नहीं थे। कश्मीर, पंजाब, उत्तराखण्ड, वाराणसी, मथुरा अवन्ती तथा दक्षिणी भाग के विद्वानों ने भी देश को बहुत कुछ दिया और उनकी देन में विचार-वैभिन्न होते हुए भी, वे सब ग्रन्थ धर्म-रूप से मान्य रहे और हिन्दू समाज की एकता के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुए।

इन सब ग्रन्थों ने एक ओर जहाँ ईश्वर के प्रति निष्ठा उत्पन्न की, वहीं धरती के प्रति भी आकांक्षा उत्पन्न की। धरती, वस्तुतः अपभ्रंश है धरित्री का, जिस पर हम आश्रय प्राप्त किये हुए हैं, उसके उपकार को कैसे भूल सकते हैं ? हमारी यही भावना भूमि-निष्ठा में मुख्य रूप से कारण बनी।

भूमि-निष्ठा ही देश और समाज की निष्ठा में मुख्य कारण होती है। भूमि-निष्ठा ही राष्ट्र-निष्ठा का मूल बन कर हमें राष्ट्र के प्रति निष्ठावान

बनाती है। यदि हम राष्ट्र-निष्ठा को किसी भी रूप मे अमान्य करते है तो यह हमारी कृतघ्नता ही हो सकती है। क्योंकि जिस भूमि ने हमे आश्रय दिया, उसने पुत्र के समान ही माना। यह हमारी माता ही है और उस माता से भी अधिक श्रद्धास्पद जिसने हमे जन्म दिया है। हम अपनी जन्मदात्री जननी से जो पोषण प्राप्त करते हैं, उसमे भी मूल कारण तो पृथिवी ही है, क्योंकि वही हमारी जननी को भी पोषित करती है। वही हमारी जननी को अन्न-जल, स्वास्थ्य और आयु प्रदान करती है।

इस प्रकार पृथिवी तो हमारी जननी की भी जननी है और इसीलिये अथर्ववेद मे उसके प्रति अत्यन्त श्रद्धा व्यक्त करते हुए प्रार्थना की गई है कि—

इन्द्रो मां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिः विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥

अर्थात्—"शचिपति इन्द्र ने जिस पृथिवी माता को शत्रु-विहीन किया है, वह हमे अपने पुत्र के समान पोषण करने वाला दुग्ध प्रदान करे।"

इसमे यह भाव स्पष्ट रूप से निहित है कि शिशु के पोषणार्थ माता का दूध अपेक्षित है। किन्तु माता के स्तनों में भी दूध तभी उत्पन्न होगा, जब उसे पोषक आहार प्राप्त होगा। पृथिवी से उसे पोषक आहार मिलेगा तो ही वह पोषण करने वाला दूध दे सकेगी। इस प्रकार माता के दूध मे भी पृथिवी ही मुख्य कारण है।

यह मंत्र है भूमि निष्ठा का जिसमे मातृभक्ति भी निहित है और राष्ट्र भक्ति भी। यदि मनुष्य इन निष्ठाओं से वंचित है तो वह अवश्य ही धर्म से वंचित है, वह अवश्य ही कर्म-निष्ठ नहीं है। पर, एक नागरिक के लिये कर्मनिष्ठ होना परमावश्यक है।

आर्यत्व बनाम अनार्यत्व—

कर्म से वंचित मनुष्य प्रतिष्ठा का पात्र नहीं हो सकता, धार्मिक भी नहीं, क्योंकि उसमें सतोगुण की कमी या अभाव होता है। संसार में जितने भी दस्यु अथवा हिंसक हुए हैं, उन सभी में तमोगुण ही अधिक मात्रा में रहा है। वेदों में तो अनेक स्थानों पर यह स्पष्ट रूप से कहा है कि अग्नि में यजन न करने वाले, कर्मानुष्ठान से रहित व्यक्ति दस्यु होते हैं।

'दस्यु' का अभिप्राय अनार्य से है। क्योंकि वेदों में ही आर्यों के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि वे अग्नि की पूजा, यज्ञानुष्ठान, वेदाध्ययन करने वाले होते हैं। किन्तु आर्य-अनार्य का भेद वंशगत नहीं, गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार ही माना गया है, जो कि यज्ञानुष्ठान रूप ही है। अर्थात् अग्नि पूजक या याज्ञिक आर्य और अग्नि पूजा के विरोधी तथा अग्निहोत्र न करने वाले अनार्य समझने चाहिये।

इन बातों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञादि कर्मों के द्वारा, मिलने वाले आर्यत्व से आकर्षित हुए लोग यज्ञानुष्ठान आदि में अधिक रुचि लेने लगे। इसके फल स्वरूप आर्यों के नाम से संगठन अधिक फला-फूला। लोग अनार्यत्व को निन्दित मान कर ही आर्यत्व की ओर अधिक आकर्षित होने लगे।

वस्तुतः संगठनात्मक दृष्टि से यह उपाय सबसे उत्तम था। इसमें न तो धन का प्रलोभन था, न भूमि या स्त्री का। वर्तमान समय में तो जर, जोरू, जमीन का आकर्षण ही सबसे बड़ा माना जाता है। इसी के पीछे लोग इतने उन्मत्त हो जाते है कि अन्य सब बातें भूल जाते हैं।

इस प्रकार आर्यत्व ने एक संगठित धर्म का रूप लिया। आगे चल कर वही हिन्दू-धर्म कहलाया। भारतवर्ष में इसकी जड़ें गहरी होती चली गई और वे आज भी इतनी गहरी हैं कि शीघ्र ही उखाड़ कर नहीं

फेंकी जा सकती। न जाने कितने आताताइयो ने पद-दलित किया हिन्दुओ को, इसके लिये कि वे हिन्दू धर्म छोड दें, किन्तु हिन्दुओं की सहिष्णुता और धर्म-निष्ठा ने उन्हे सफल नही होने दिया। वे अनेक प्रकार अत्याचार करके भी हिन्दुओ को झुका न सके।

एक तथ्य यह भी था कि ससार मे जब आर्यावर्त का नामकरण हुआ, तब उसकी सीमा कुछ बहुत बडी नही थी, उसमे तो धीरे-धीरे ही विस्तार हो सका। जैसे-जैसे धर्म का फैलाव हुआ, वैसे-वैसे ही उसकी सीमा भी फैलने लगी और उसका परिमाण यह माना जाने लगा कि जहाँ-जहाँ यज्ञ हो, वही आर्यावर्त है। प्राचीन ग्रन्थों मे ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि 'आर्यावर्त वहाँ तक है जहाँ तक काले मृग अग्निरूप अथवा अग्नि के अवतार हैं और जहाँ अग्नि है, जहाँ यज्ञ-कर्म होते हैं, वह भूमि आर्यावर्त ही हो सकती है।

इसका यह भी तात्पर्य है कि अनार्यों की भूमि मे यज्ञानुष्ठान नही होते थे किन्तु रावण प्रभृति अनेक असुर, जो अनार्य माने जाते हैं, वे भी किसी न किसी रूप मे, किसी न किसी देवता की प्रसन्नता के लिये यज्ञ करते थे। रामायण के अनुसार मेघनाद आदि ने भी यज्ञ किये थे। मनु के अनुसार आर्यावर्त की स्थिति विन्ध्यगिरि के उत्तर तक और हिमालय एव पूर्वीय-पश्चिमी समुद्र के समस्त भूभाग तक थी।

इस प्रकार यज्ञ-कर्म आर्यो या हिन्दुओ के धर्म मे समाविष्ट हो चुका था। जहाँ-जहाँ यज्ञ होते थे, वह धरती पवित्रतम मानी जाती थी। इस कारण उन-उन स्थानो को तीर्थ की समानता प्राप्त हुई। लोग उन ऋषियो के आश्रमो में जाने लगे जो यज्ञ किया करते थे। वे ऋषिगण यज्ञ भी करते-कराते और धर्मोपदेश भी देते थे। इससे लोगो मे धर्म के प्रति आस्था तो बढी, किन्तु राष्ट्र-निष्ठा का पूर्ण रूप से उदय नही हो सका। क्योकि उस प्रकार की निष्ठा के लिये मनुष्य को सत्यनिष्ठ, कर्तव्य

निष्ठ, कष्ट-सहिष्णुता और आवश्यक होने पर आत्म बलिदान के लिये तत्परता की अपेक्षा भी सम्भव थी। उसके साथ यह भावना भी आवश्यक थी कि अपने किसी आचरण से मातृभूमि को किसी प्रकार की क्षति न पहुँच पाये। ऋग्वेद के पृथिवी सूक्त में इस भावना का स्पष्ट उल्लेख देखा जा सकता है—

यत् ते भूमे विश्वनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पितम्॥

अर्थात्—"हे भूमे! मैं जिस भाग को खोदूँ वह प्राणतत्व से शीघ्र परिपूर्ण होजाय। मेरे द्वारा तेरे मर्म स्थान पर किसी प्रकार का प्रहार न हो सके, जिससे तेरे हृदय में कोई व्यथा न हो पाये।"

इस सूक्त में साधक का आत्म-विश्वास और श्रद्धा-भाव दोनों ही निहित है। भूमि में स्वर्णादि जो बहुमूल्य वस्तुएँ हैं, साधक उन्हें खनन क्रिया द्वारा निकालना चाह कर भी यह इच्छा करता है कि उन-उन वस्तुओं की कमी भी न हो पाये। हम जो उपयोगी वस्तु निकालें, वह इस प्रकार निकालें कि उसकी उत्पादन-शक्ति पर प्रभाव न पड़े।

तात्पर्य यही है कि हम सदैव अपने उत्थान की कामना करते रहे हैं और इससे भी अनभिज्ञ नहीं रहे हैं कि हमारा उत्थान देश, जाति, धर्म, धरती और समाज के उत्थान से ही सम्भव है।

और इसके लिये हम सदैव प्रयत्नशील भी रहे हैं। हमने सदैव यह प्रयत्न किया है कि एकता के सूत्र में बंधे रहें। इस प्रयत्न में हमें सफलता न मिली हो, यह बात भी नहीं कही जा सकती। क्योंकि विधर्मियों के पदार्पण से पूर्व भारतवर्ष धर्म की दृष्टि से तो एकता के सूत्र में बँधा ही हुआ था।

राष्ट्र और समाज-निष्ठा—

और इस विषय में सही जानकारी के लिये किन्हीं विशेष प्रमाणों की अपेक्षा नहीं थी। जब देश छोटे-छोटे राज्यों के रूप में बँटा हो तब

ऐसे प्रश्नो की ओर ध्यान देने के लिये न कोई अवसर था और न कोई कारण ही। यह तथ्य भी उस स्थिति मे अनजाना ही बना रहता है कि धर्म अथवा समाज का कौन-सा सगठक तत्व कितना कम या अधिक प्रभावशाली है ? इसका पता तो तभी चल पाता है जब विधर्मियो या विदेशियो के आक्रमण होते हैं और वे प्रयत्न करते हैं विभिन्न राज्यो और उनकी बस्तियो तथा भूखण्डो पर अधिकार करने का वैसे इन बातो को जानने का समय तो उस स्थिति मे भी नही मिल पाता, किन्तु परिस्थितियाँ उन तथ्यो को स्वतः उजागर कर देती हैं। क्योकि उस समय लोगो को प्राणप्रण से शत्रुओ का सामना करना होता हैं, तब पता चल पाता है कि देश के प्रति किसकी निष्ठा कितनी है ? वस्तुतः निष्ठा की परीक्षा का उपयुक्त अवसर यही होता है। जो लोग निष्ठा-हीन अथवा अल्प निष्ठा वाले होते है, वे रणक्षेत्र मे जाने से कतराते हैं, उन्हें अपनी प्राण-रक्षा की ही विशेष चिन्ता रहती है।

राष्ट्र या समाज-निष्ठा की इस कमी के परिणाम भी कम भयंकर नही होते। भारतवर्ष इससे कई बार पर्याप्त धन-जन की हानि उठा चुका है। जब तक विदेशी-आक्रमण का पता नही रहता, लोग गहरी नींद मे डूबे रहते है, उस असावधानी का लाभ उठा कर शत्रु अपना अधिकार जमाता हुआ आगे बढता रहता है। यदि उसे कभी किसी व्यवधान का सामना करना होता है तो वह व्यवधान होता है उन निष्ठावानो का जो प्राण देकर भी देश की रक्षा के लिये तुरन्त आगे आ जाते है।

वही आपात्-स्थिति अग्नि परीक्षा का रूप ले लेती है। सोने की सही परख जैसे अग्नि मे हो सकती है, वैसे ही राष्ट्र-निष्ठा या समाज-निष्ठा की परख युद्ध के मैदान मे अधिक सम्भव है। इतिहासकारो के मत मे भारतवर्ष के लोगो मे अपने देश के प्रति निष्ठा की कमी-कभी

नहीं रही। हिन्दू-लोग इस अग्नि-परीक्षा में सोने के समान पूर्ण रूप से खरे निकले।

विश्व-विजय के आकांक्षी सिकन्दर के नाम से सभी इतिहास प्रेमी तो परिचित हैं ही, और भी बहुत-से लोग यह बात जानते हैं कि वह भारत वर्ष का भी सम्राट् बनने की धुन में इस देश पर चढ़ आया और उसने अपने आक्रमण में जितनी तेजी दिखाई वह कल्पना से परे थी। किन्तु इस देश की मिट्टी उसे लोहे से भी अधिक कठोर सिद्ध हुई तथा यहाँ के लोगों की निष्ठा ने उसका समूचा स्वप्न धूल में मिला दिया। उन दिनों सिंधु नदी के तट पर सौभूति, मालव, क्षुद्रक, कठ प्रभृति अनेक गणराज्य विद्यमान थे जो भारतवर्ष के सीमा-क्षेत्र पर थे। यद्यपि यह राजा लोग अल्प शक्ति वाले थे और आक्रमणकारी सिकन्दर से लोहा लेने में समर्थ न हो सके। फिर भी उन्होंने उसका भरसक प्रतिरोध किया। वे अपने-अपने राज्य की चप्पा-चप्पा भर धरती के लिये लड़े और उन्होंने प्राण देकर ही शत्रु-सेना को आगे बढ़ने दिया।

फिर भी सिकन्दर की सेना का साहस कुछ अधिक नहीं बढ़ रहा था। उसे अब तक पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी थी। व्यास नदी के तटवर्ती क्षेत्र तक पहुँचते-पहुँचते तो वह बहुत कुछ साहस छोड़ चुकी थी। उस नदी के पार भी एक विशाल सेना उसका मुकाबला करने को तैयार थी, यह जान कर उसकी सेना अधिक भयभीत हुई। उसने दबे स्वर में इच्छा व्यक्त की कि आगे न बढा जाय। तो भी उसे उसके लिये विवश होना पड़ा। किन्तु गंगा के पार मगध-राज्य पर आक्रमण का आदेश स्वीकार करना उसके लिये असह्य हो गया और वह रो-रोकर यह प्रार्थना करने लगी कि अब मरने के लिये आगे न बढ़ा जाय। क्योंकि अब एक-एक इंच पर कटना-मरना होगा। वस्तु स्थिति भी यही थी, सिकन्दर की सेना बहुत कुछ विनष्ट हो चुकी थी, जो शेष थी वह भी दुर्दशाग्रस्त थी, उसके हौसले पस्त थे और सबमें प्राण-भय व्याप्त था।

उस समय हिन्दुओ में संगठन की भावना जाग्रत् होने लगी थी। विदेशी-सेना के अत्याचारों और धर्म-विरोधी कार्यों से उनकी भावना को भारी चोट लगी थी। यद्यपि छोटे-छोटे राज्यो मे बंटे होने के कारण उनमे पारस्परिक विद्वेष की भावना प्रबल थी, किन्तु सभी एक धर्म के—वैदिक धर्म के अनुयायी थे, इसलिये धर्म की रक्षा-भावना का जोर बढ रहा था। लोगों को भय था कि विदेशियो को अधिकार होने पर धर्म नष्ट हो जायगा। यह कोई नहीं चाहता था कि हमारा धर्म नष्ट हो या हमारी संस्कृति पर आँच आये। विदेशियो के प्रबल प्रतिरोध का सबसे बडा कारण यही था। इसी से उनमे आत्म-बलिदान की भावना बढ गई थी।

यद्यपि देश को सिकन्दर के आक्रमण से बहुत हानि पहुँची। भीषण नर-संहार हुआ, अनेक राज्य नष्ट हो गये, न जानें कितनी सतियों ने जौहर-प्रथा का अनुकरण किया, किन्तु हिन्दू वीरो ने अपमानित जीवन की अपेक्षा सम्मानपूर्ण मृत्यु का वरण किया। एक प्रमाण मिलता है कि सिकन्दर ने एक स्थान पर सात हजार व्यक्तियों को घेर कर उन्हें अपनी सेना में सम्मिलित करने की शर्त पर जीवन-दान देने का प्रस्ताव किया, जिसे उन्होने अस्वीकार कर दिया। वे चाहते तो उसकी सेना में सम्मिलित होने पर भी अवसर आने पर उससे विश्वासघात करके बदला ले सकते थे। किन्तु वे ऐसा करना भी धर्म-विरुद्ध समझते थे।

———

हिन्दुत्व के संगठन का सूत्र धर्म ही रहा है

फूट के दुष्परिणाम—

वस्तुत: धर्म ने एकता को बहुत शक्ति दी। सिन्धु तट के दो गण-राज्य उस समय अधिक प्रसिद्ध थे—मालव और शूद्रक। दोनों के ही राजा परस्पर में कट्टर शत्रु थे। उनमें परम्परा से वैर चला आ रहा था। किन्तु सिकन्दर के आक्रमण को विफल करने की दृष्टि से उन्होंने ऐसी सन्धि कर ली कि विवाह-सम्बन्ध तक स्थापित कर लिये। इतिहासज्ञों का कथन है कि उन्होंने परस्पर में दस-हजार लड़के-लड़कियों के विवाह सम्पन्न किये, जिससे एकता के सूत्र में बंधने में भारी सहायता मिली।

किन्तु दोनों गणराज्यों में ऐसा पारस्परिक मेल होने में देर हो चुकी थी। शत्रु-सेना तेजी से आकर दबोच चुकी थी समूची भूमि को, इसलिये विजयश्री मिलना असम्भव था। हजारों वीर इस युद्ध में मारे गये। यद्यपि सिकन्दर एक विष-युक्त तीर से आहत एवं मरणासन्न अवस्था को पहुँच कर भी बच गया।

सिन्धु-तट के शूद्रक और मालव गणराज्यों के क्षत्रिय राजा ही युद्ध-कुशल वीर नहीं थे, वहाँ के ब्राह्मण भी युद्ध-कौशल में बढ़े-चढ़े थे। इसलिये क्षत्रिय वीरों के साथ सिकन्दर से हुए युद्ध में पाँच हजार ब्राह्मण भी रणक्षेत्र में वीर गति को प्राप्त हुए।

वस्तुत वे ब्राह्मण ही तत्वज्ञान का बीज वपन करने वाले आत्म-ज्ञानी थे। यूनानी ग्रन्थकारों ने इन्हें दार्शनिक भी कहा है। यह दार्शनिक ब्राह्मण घर-घर युद्ध का अलख जगाने मे लगे रहे और राजाओं तथा सेना-नायको को युद्ध के लिये उत्साहित करते रहे। इन्होंने धर्म की रक्षा के लिये वीरो का आह्वान किया और यह एक कार्य भी किया कि जो कोई राजा आदि सिकन्दर की अधीनता स्वीकार करता, उसकी भर्त्सना करते और प्रयत्न करते कि वह पुनः सिकन्दर के प्रति विरोधी बन जाय। सिकन्दर इन लोगो से अत्यधिक रुष्ट और परेशान था। उसने इन्हे अपने मार्ग मे बाधक मान कर मौत के घाट उतार डाला।

आत्म-बलिदान की भावना के मूल में धर्म था, इसीलिये लोग कटि-बद्ध हो गये सिकन्दर को रोकने के लिये। यदि इतनी कट्टरता न आ पाती तो वह अवश्य ही पाटलिपुत्र तक बढ गया होता, किन्तु उसकी अभिलाषा पर पानी फिर गया और वह व्यास नदी के तटवर्ती क्षेत्र मे ही वापस लौटने को विवश हो गया। जब वह लौटा तब उसके द्वारा जीते गये भूभागों मे विद्रोह की आग भडक उठी। सिकन्दर द्वारा नियुक्त क्षत्रप (राज्याधिकारियो) का मारा जाना आरम्भ हो गया। उसके लौटते-लौटते ही, वरन् उसी के आगे यह विद्रोह फैल गया था। उसके जीवन-काल मे ही भारतवासियो ने विदेशी सत्ता को उखाड फेंकने का कार्य कर डाला।

धर्म की दृष्टि से हिन्दुओं का एक रहना ही हिन्दुओं के लिये अधिक हितकर रहा है। इसी के कारण हिन्दू-समाज अभी तक जीवित है, अन्यथा विधर्मियों ने तो इसे मिटाने का ही सदा प्रयत्न किया है। उन विधर्मियो के साथ कुछ दुर्बल प्रवृत्ति के हिन्दू भी लगे बिना न रह सके। इससे समाज को कुछ हानि भी पहुँचती रही है। यदि ऐसे लोग विध-

मियों का साथ न देते तो सम्भव था कि देश को परतन्त्रता का शिकार सहज ही न होना पड़ता।

चन्द्रगुप्त मौर्य का उदय–

सिकन्दर के पश्चात् भारतवर्ष में चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से एक ऐसी विभूति का उदय हुआ, जिसने भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना को जाग्रत किया और भारतवर्ष को एक राष्ट्र का रूप दिया। वस्तुतः चन्द्रगुप्त चाणक्य के निदर्शन में तक्षशिला में उस समय विद्याध्ययन करता था, जिस समय सिकन्दर ने भारतवर्ष के बहुत-से भूभाग को पद दलित किया था। चाणक्य विदेशी सत्ता का कट्टर विरोधी था, इसलिये उसके विचारों का प्रभाव चन्द्रगुप्त पर पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण था कि उसके मन में राष्ट्र-निष्ठा का उदय हुआ। उसने समस्त आर्यावर्त को एक सूत्र में बाँधने के विचार से उसका प्रचार आरम्भ कर दिया। जिन गणराज्यों को सिकन्दर के विरुद्ध युद्ध करके क्षति उठानी पड़ी थी, वे इस प्रस्ताव से शीघ्र ही सहमत हो गये। अन्य गणराज्य भी भविष्य की आशंका से उसके सहयोगी बने। तब चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय सेना का गठन हुआ, जिसे कुछ लोगों ने स्वातन्त्र्य सेना का नाम भी दिया। अब सभी गणराज्य एक राष्ट्र के रूप में संगठित होने को कटिबद्ध हो गये। इस प्रकार भारतवर्ष एक राष्ट्र बन गया।

जो हिन्दू सैनिक सिकन्दर की सेना से लड़े थे, वे भी चन्द्रगुप्त की सेना में सम्मिलित हो गये। अलग-अलग बने हुए छोटे-छोटे राज्यों ने भी राष्ट्र हित के समक्ष अपने-अपने हितों का त्याग कर दिया। चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के सहयोग से सभी राजाओं में राष्ट्र-भावना जाग्रत की, जिसके फलस्वरूप अल्प समय में ही चन्द्रगुप्त का विशाल साम्राज्य स्थापित हो गया, इस कार्य में कठिनता से तीन-चार वर्ष का समय ही लगा होगा।

सेक्यूलस का आक्रमण—

चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्राट् बने अभी कुछ ही वर्ष हुए होगे कि सिकन्दर के समान ही यूनानी सेनापति सेक्यूलस ने भारतवर्ष पर जोरदार आक्रमण किया। किन्तु चन्द्रगुप्त ने उसकी भारत-विजय की अभिलाषा शीघ्र ही धूल मे मिला दी। सेक्यूलस की पराजय का मुख्य कारण भी हिन्दुओ मे धार्मिक भावना और समाज-निष्ठा का होना ही था। इसी निष्ठा के बल पर चन्द्रगुप्त ने समूचे भारतवर्ष पर मौर्य-साम्राज्य की स्थापना कर डाली। वस्तुत. भारत को एक राष्ट्र होने का गौरव तभी से प्राप्त हुआ।

भारतवर्ष मे धर्म और समाज निष्ठा के कारण स्वतन्त्रता-प्रेम की की यह भावना तब से लगभग एक हजार वर्ष तक निरन्तर बनी रही। एक हजार वर्ष के इस लम्बे समय को इतिहासकारो ने भारतवर्ष का स्वर्ण युग कहा है। किन्तु उसके बाद इस स्वर्ण युग मे व्यवधान उपस्थित हो गया। विदेशियों और विधर्मियो की दृष्टि तो इस देश पर सदा से लगी ही रही है और वे इसे अपने अधिकार मे करने के लिये लालायित भी रहे हैं। इसलिय अवसर की ताक मे भी लगे रहे।

सम्राट् अशोक तक भारत अपनी सुरक्षा मे पूर्णत समक्ष रहा, किन्तु उसके बाद सम्भवत पारस्परिक फूट के बढने से उसकी सगठनात्मक शक्ति मे कमी आ गई। यूनानी शासक डेमिस्ट्रियस ने भारत पर आक्रमण कर दिया। इधर, बौद्धधर्म अपनी उन्नत अवस्था पर था, जिसका अहिंसात्मक सिद्धान्त जोर पकड रहा था। यद्यपि उस अहिंसा धर्म की रक्षा के साथ भी हिंसा का प्रयोग होता रहा, तो भी धार्मिक दृष्टि मे बदलाव आने से लोगो की मन स्थिति डगमगा गई। अहिंसा-धर्म के सिद्धान्त ने देश की प्रतिरोध-बुद्धि को इतना अधिक प्रभावित किया कि प्रतीकार-शक्ति का ही लोप होने लगा। लोग अहिंसा के कारण

अस्त्र-शक्ति की निन्दा करने लगे। कुछ ने उसका यह अर्थ लिया कि मर जाओ, किन्तु मारो मत। उसने यह सोचने का प्रयत्न नहीं किया कि आततायी के किये अहिंसा का व्यवहार क्यों किया जाय? वह तो अपनी मौत को खुला निमंत्रण ही होगा।

सम्भवतः इसी के फलस्वरूप डेमिस्ट्रियस को भारत वर्ष में अधिक भीतर तक प्रविष्ट होने में सरलता रही। वह बिना किसी बाधा के अयोध्या तक आ गया। वह तो भारतवर्ष में अभी कुछ प्रतीकार-शक्ति भी शेष थी, इसी से कलिंग नरेश ने उसका सामना किया और उसे भारत की सीमा से बाहर खदेड़ दिया।

उसके चार वर्ष बाद ही, यूनान के ही मैनेंडर ने भारतवर्ष पर पुनः आक्रमण कर दिया। उस समय मगध की राजगद्दी पर बृहद्रथ नामक कापुरुष राजा राज्य करता था। उसके सेनापति पुष्यमित्र ने उसकी निष्क्रियता से रुष्ट होकर उसे मार डाला और स्वयं सम्राट् बन कर मैनेंडर का सामना करने को बढ़ा। इसके फलस्वरूप मैनेंडर हार कर चला गया। उसके बाद प्रायः सत्रह सौ वर्षों तक भारत वर्ष पर आक्रमण करने का साहस कभी कोई विदेशी नहीं कर सका।

पुष्यमित्र शुंगवंशीय था, लगभग सौ वर्ष तक इस वंश ने भारत वर्ष पर राज्य किया। इसके बाद कुशाणों ने भारत पर आक्रमण किये। उनके आक्रमण यूनानियों से अधिक भयंकर और उत्पीड़क होते थे। यह बस्तियों में आग लगाते, लूटते, अपहरण और नर-संहार करते। इनके अत्याचार निरीह जनता पर लगभग चार सौ वर्षों तक होते रहे।

कुशाण—शक भारत में घुल-मिल गये—

कुशाणों ने भारत को ही अपने अधिकार में नहीं किया, चीन देश पर्यन्त समस्त भूमि उन्होंने पदाक्रान्त की। किन्तु भारतवर्ष अपने धर्म-

बल मे इतना प्रबल था कि उसने कुशाणो को भी उससे प्रभावित कर लिया और उन्हें अपने मे ही समाविष्ट कर लिया। वे विदेशी होकर भी इस देश मे घुल-मिल गये।

उस समय तक उत्तर भारत मे कोई शक्तिशाली सम्राट् नही था, इस कारण विदेशी आक्रमणो को अधिक भीतर तक घुसना प्रायः सरल ही रहता था। जब शकों ने भारत वर्ष पर आक्रमण किया तब वे मध्य भारत से भी आगे बढ गये। उन्होने नासिक से जुन्नार पर्यन्त के प्रदेश पर प्राय पचास वर्ष शासन किया। फिर सातवाहन वंश के सातकर्णी नामक वीर ने शक राजा नहपान को मार कर शको को नर्मदा के उस पार तक खदेड दिया। इसी समय शको पर मालव और यौधेय गण-राज्यो ने भी आक्रमण किया, जिससे वे अत्यन्त निर्बल और असमर्थ हो गये।

फिर भी कुशाण सक्रिय रहे, शको का भी निर्मूलन नही हुआ था। किन्तु इन दोनो ने ही भारतीय धर्मों को पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिया था, इसलिये अन्त मे उनका पृथक् अस्तित्व नही रह गया। यह लोग दान, पुण्य, यज्ञादि करने लगे, संस्कृत पढने लगे और शिला-लेखो मे संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करने लगे। इनके नाम भी हिन्दुओ जैसे ही रखे जाने लगा।

कुशाण-राजा कनिष्क बौद्ध धर्म स्वीकार कर उसके प्रचार मे रुचि लेने लगा। उसने भारत मे ही नही, भारत से बाहर भी बौद्ध धर्म के प्रचार मे बहुत कार्य किया। उसके द्वारा विश्व बौद्ध परिषद् की स्थापना हुई। उसने बौद्ध धर्म तो ग्रहण किया ही, रुद्र की उपासना मे निष्ठा व्यक्त की। कनिष्क के पौत्र ने तो वैदिक धर्म स्वीकार करते हुए अपना नाम भी वासुदेव रख लिया। उसने जो सिक्का चलाया उस पर शिव और नन्दीश्वर की आकृतियाँ रखी गईं।

यह सब होते हुए भी भारत के मूल निवासियों से उनकी पृथकता किसी न किसी रूप में बनी ही रही। चतुर्थ शती में राजा समुद्रगुप्त ने कुशाणों को और चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) ने शकों को इस प्रकार पराजित किया कि अन्त में वे हिन्दू धर्म में ही विलय को प्राप्त हो गये। किन्तु तभी हूणों ने अपने आक्रमण आरम्भ कर दिये। सर्व प्रथम इन्होंने चीन पर आक्रमण किया और फिर वे पूरे योरोप के विजेता बन गये। उन्होंने रोमन साम्राज्य को भी धूल में मिला दिया। उनके बाद हूणों का आक्रमण भारत वर्ष पर बड़े भयंकर रूप से हुआ। उस समय गुप्त वंश का एक सम्राट् स्कन्दगुप्त पदासीन हुआ था। उसने हूणों का साहस पूर्वक सामना किया। इस बार हूणों की एक भी न चली, सम्राट् स्कन्दगुप्त ने उनका भारी विनाश किया। अन्त में उन्हें यहाँ से भागने को विवश होना पड़ा।

किन्तु जब स्कन्दगुप्त वृद्ध हो गया तब हूणों ने अवसर देख कर पुनः आक्रमण किया। यद्यपि स्कन्दगुप्त ने पुनः बड़े साहस से उनका सामना किया, किन्तु युद्ध काल में ही उसकी मृत्यु सैन्य-शिविर में हो गई। अब शत्रुओं के लिये कोई बाधा शेष न थी। उन्होंने अत्याचार की भी सीमा ही तोड़ डाली। देश में वह स्थिति उत्पन्न कर दी जो कभी दैत्यों और दानवों ने की होगी।

इतिहास बताता है कि वह स्थिति बड़ी निराशाजनक थी। फिर भी देश-धर्म की निष्ठा का बीज तो अंकुरित था ही। पराजित जाति भी जब धर्म के सम्बल को नहीं छोड़ती, तब उसमें आत्म-बल तो रहता ही है। और उसी आत्म-बल के कारण कभी कोई ऐसी विभूति भी उदय को प्राप्त हो जाती है जो धर्म की रक्षा कर सके।

हूणों के भयंकर अत्याचारों से त्रस्त हिन्दू जाति की रक्षा के लिये उस समय मालवा की राजगद्दी पर बैठा था राजा यशोधर्मा। उसने

बड़े साहस के साथ सेना एकत्र की और साथ ही अनेक हिन्दू राजाओ को सगठित किया युद्ध के लिये। रण का बिगुल बजा तो ऐसा कि हूण-आक्रान्ता मिहिरगुल का सितारा ही गुल हो गया। इस प्रकार हूणो के अत्याचार का अन्त हो सका।

यद्यपि राजा यशोधर्मा कोई चक्रवर्ती सम्राट् नही था, फिर भी उसमे इतनी योग्यता थी कि अनेक राजाओ को अपने साथ ले सका। उसके उस कार्य मे समाज-निष्ठा और राष्ट्र-निष्ठा ने भी बडा सहयोग किया, धर्म के नाम पर लोगो ने पारस्परिक मतभेद और मिथ्याभिमान को छोड दिया। क्योकि इसी से देश-धर्म को बचाया जा सकता था।

यद्यपि मगध देश का राजा बलादित्य अब भी अपने को सम्राट् मानता था। किन्तु उसने समझ लिया कि नाम मात्र के सम्राट् बने रहने से कोई कार्य होने वाला नही है। इसीलिये वह भी राजा यशोधरा की धर्म ध्वजा के नीचे आ खडा हुआ। वस्तुत: यह विवेक बुद्धि ही थी, जिसके कारण सम्राट् होने का गर्व व्यर्थ सिद्ध हुआ।

यहाँ एक यह तथ्य भी जानने योग्य है कि हूण-प्रतिनिधि मिहिरगुल शिवजी का उपासक था। किन्तु अत्याचारी होने के कारण लोगो ने उसके शिव-भक्त होने वाली बात पर ध्यान नही दिया। वहाँ तो एक ही लक्ष्य था—अत्याचारो से छुटकारा। रावण भी शिवभक्त था, किन्तु राम को उसका वध करना ही पडा था धर्म-रक्षा के लिये।

हिन्दुओं में प्रबल धर्म-निष्ठा—

भारत ने अपनी धर्म-निष्ठा का त्याग कभी नही किया। उसी के बल पर वह कुशाण, हूण, शक, यूनानी आदि का सामना कर सका और अपनी निष्ठा के बल पर ही उसे सफलता प्राप्त हुई। मिहिरगुल

की हार होने पर भारतवासियों ने शान्ति की साँस ली। उसके कई सौ वर्षों तक फिर कोई आक्रमण इस देश पर नहीं हुआ।

यद्यपि इस मध्य मुहम्मद कासिम ने सिन्ध राज्य पर आक्रमण अवश्य किया। किन्तु उस आक्रमण का प्रभाव वहीं तक सीमित रहा। उससे आगे बढ़ने का उसने साहस ही नहीं किया। क्योंकि भारत वर्ष इस बीच अपनी शक्ति अधिक बढ़ा चुका था। उसका शास्त्र ज्ञान और शस्त्रज्ञान दोनों ही उत्कर्ष पर थे। उसने ऐश्वर्य-प्राप्ति और उसकी सुरक्षा का बहुत कुछ अभ्यास कर लिया था। इतिहासकारों ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य, सातवाहन, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, बलादित्य, यशोधर्मा आदि सभी राजा वैदिक धर्म में अत्यन्त निष्ठा रखते थे और उनकी उससे भी अधिक निष्ठा और राष्ट्र के प्रति थी।

भारतीय राजाओं का शासन धर्म गुरुओं और पुरोहितों की व्यवस्थाओं और मान्यताओं पर चलता था, इस कारण जो लोग धर्म-विरोधी कार्य करते थे, वे दण्ड के भागी माने जाते थे। बाहर से जो लोग इस देश में आये थे, उनमें से अनेक व्यक्ति हिन्दू धर्म वैदिक धर्म के प्रति निष्ठावान नहीं हो सके थे। भारतीय उन्हें आन्तरिक रूप से अपना मित्र नहीं मान सके।

इस देश का यह दुर्भाग्य ही रहा है कि इस पर विधर्मियों के आक्रमण होते ही रहे हैं और यह उनके बर्बरतापूर्ण अत्याचारों को सहता हुआ भी अपना अस्तित्व बनाये रहा है। प्राचीन काल से ही यहाँ दैत्य, राक्षस, असुर, नाग, द्रविड़, यवन, सिपाद, किरात, कम्बोज, कैवर्त, कुशाण, शक, पुण्ड्र, भोज, यादव, भरत आदि जातियाँ रही हैं, किन्तु वे सब वैदिक धर्म की ही अनुयायी बन गई थीं, इसलिये उनमें पारस्परिक विरोध नहीं रह गया था। किन्तु जो लोग धर्म की दृष्टि से अलग-थलग रहे, उन्हें यहाँ का जन-मानस स्वीकार नहीं कर सका। यही कारण था

कि यहाँ के ब्राह्मण और क्षत्रिय राजा विधर्मियो के विरोधी रहे। मनीषियो की मान्यता रही है कि ब्रिटिश साम्राज्य शाही के जो कट्टर विरोधी थे, वे हिन्दू ही मुख्य रूप से थे। इतिहासकार स्मिथ ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

इससे एक यह धारणा भी पुष्ट होती है कि हिन्दू समाज मे सगठन की अद्भुत क्षमता है। इसके साथ ही इसमे निश्चय की भी दृढता रही हैं। शिक्षित-अशिक्षित सभी प्रकार के व्यक्ति धर्म, समाज और राष्ट्र के प्रति निष्ठावान रहे हैं, इसका प्रमाण भारतीय स्वातन्त्र्य सग्राम मे प्रत्यक्ष रूप से मिल चुका है।

अरबों का आक्रमण–

ईसा की आठवी शती मे अरबो ने भी इस देश पर भयकर आक्रमण किया। अरब इन दिनो इतने अधिक सबल हो उठे थे कि उन्होने पूरे दक्षिणी योरोप को अपने अधिकार मे कर लिया था। मिस्र, ईरान, तार्तार, आदि का पतन इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर विजय प्राप्त कर ली, इससे हिन्दुओ मे पुनः जाग्रति हुई तथा राजस्थान मे राजपूतो ने दृढ सगठन करके अरबो से जोरदार टक्कर ली। यद्यपि अरबो ने राजपूताने पर चौबीस बार आक्रमण किये, किन्तु किसी भी बार जीत न सके। राजस्थान मे पूर्व दक्षिण मे पदार्पण करना चाहा, किन्तु गुजरात के महावीर चालुक्य के समक्ष उनके सब प्रयत्न व्यर्थ हो गये।

शक, हूण आदि के विचारो मे धर्म के प्रति कट्टरता न थी, इसलिये वे तो वैदिक धर्म के अनुयायी बन चुके थे। किन्तु मुसलमान अपने धर्म के प्रति बहुत कट्टर थे, इसलिये वे भारतीय संस्कृति को अन्त तक न अपना सके। भारतीय वीरो ने इन धर्मान्धो का विरोध इसीलिये अधिक किया था। आरम्भ मे इनके पाँव भी इस देश मे नही टिकने दिये,

किन्तु समय की मार के समक्ष सभी को विवश होना होता है। बर्बरता के समक्ष मनुष्यता झुकने लगती है। फिर भी संसार में, विशेष कर, हमारे भारतवर्ष में ऐसे वीरों की भी कमी नहीं रही है, जिन्होंने अपने धर्म पर, अपने समाज पर, अपने राष्ट्र पर हँसते-हँसते प्राणों को बलिदान कर दिया। उनका सिद्धान्त रहा है कि प्राण देकर भी धर्म की रक्षा करो, प्राण देकर भी समाज को टूटने से बचाओ।

न जानें कितनों ने धर्म की रक्षा पर अपने प्राणों की भेंट चढ़ाई। न जानें कितनों ने समाज को टूटने से बचाने के लिये अपना बलिदान कर दिया। न जानें कितनों ने न्यौछावर कर दिया अपने को अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर। उसका अनुकूल फल भी निकला बहुत लम्बी गुलामी के पश्चात्। किन्तु हिन्दुओं में धैर्य की बड़ी प्रबलता है, वे असफल रहने पर भी निराश नहीं होते कभी।

जब निराशा नहीं होती तभी उत्साह होता है और उत्साह होता है तो साहस भी बढ़ता है। जहाँ उत्साह में कमी हुई, वहाँ साहस भी नहीं रहता। हमारे शास्त्रों में यह उपदेश भरे पड़े हैं कि आशा को कभी न छोड़ो, और उत्साह को सदा बनाये रखो। शास्त्रों के सभी उपदेश हमारे लिये धर्म रूप में स्वीकार्य रहे हैं।

और धर्म रूप में स्वीकार किया हुआ वह शास्त्रोपदेश ही हमारे लिये सम्बल बना हुआ है जीवन में। हमने धर्म-बल को सदैव अपने साथ माना और उसी रूप में उसका अनुभव किया है। हम धर्म के बल पर ही हिन्दू-समाज के निर्माण में समर्थ हो सके। हमारे संगठन का एक मात्र सूत्र धर्म ही रहा है।

किन्तु हमारा यह उद्देश्य कभी नहीं रहा कि दूसरों के धर्म का निरादार करें। जिस किसी धर्म में जो भी अच्छी बातें हों, वे तिरस्कार के योग्य नहीं मानी जा सकतीं। किन्तु हम यह भी कह सकते हैं कि

वैदिक धर्म या हिन्दू धर्म मे जो कुछ भी है, पूर्ण है। ऐसा कोई विषय उसमे नही छूटा है, जो व्यष्टि या समष्टि के लिये उपयोगी रहा हो।

हमारा धर्म इतना पूर्ण है कि दूसरो को भी उसमे कुछ न कुछ मिल ही जाता है। इसीलिये बहुत-से विधर्मी भी हमारे धर्म-ग्रन्थो की ओर आकर्षित ही नही हुए, उनमे रम ही गये। कुछ लोगो ने तो यहाँ तक माना कि हिन्दुओ के धर्म-ग्रन्थो मे जो कुछ मिला, वह कही अन्यत्र देखा ही न जा सका।

यही कारण था कि कुशाण, शक, हूण, यूनानी आदि जो भारत मे आकर बसे, वे हिन्दू धर्म के उपासक बन कर हिन्दुओ मे ही विलीन हो गये। इसमे हिन्दूओ के शस्त्र बल ने उतना काम नही किया जितना कि शास्त्र बल ने। यह स्पष्ट ही है कि शास्त्र बल मे और धर्म बल मे कोई अन्तर नही है। वस्तुत भारतवासियो मे अपूर्व तत्वज्ञान, अद्भुत धर्म-निष्ठा विद्या, कला, स्वर्ण-रत्नादि तथा गोधन आदि की कभी भी कमी नही रही। इसी से आकर्षित होकर विधर्मी लोग इस देश पर आक्रमण करते रहे और लूट-खसोट तथा नर-संहार करते रहे।

किन्तु इसका परिणाम यह भी रहा है कि भारतवासी आक्रमण-कारियो के भय से आतकित रहे और उससे बचने के लिये संगठित भी होते रहे। उनके सदैव एकता बद्ध रहने मे विधर्मियो के आक्रमण भी मुख्य रूप से कारण रहे हैं।

हिन्दुत्व के पतन की आधार शिला

भारत पर यवन-आक्रमण—

ईसवी सन् नौ सौ अस्सी में पंजाब का राजा जयपाल था, जिस पर सुबुक्तगीन ने आक्रमण कर उसे अपने अधीन बना लिया। उसके बाद जब जयपाल ने उसे निर्वासित कर दिया तो पुनः पंजाब पर आक्रमण हुआ और उस पर विधर्मियों का राज्य स्थापित हो गया।

उसके बाद सुबुक्तगीन के पुत्र महमूद गजनी ने सन् एक हजार एक में भारत पर आक्रमण किया। किन्तु उसे यहाँ से चले जाना पड़ा। उसने सन् एक हजार चौबीस तक इस देश पर सत्रह बार आक्रमण किये और हर बार पराजित होकर लौटा। किन्तु अठारहवीं बार का उसका आक्रमण असफल न हो सका। कुछ इतिहासज्ञों का मत है कि उसे सत्रह बार सकुशल वापस लौट जाने देना ही हिन्दुओं की बड़ी भारी भूल थी। हमारे नीति ग्रन्थ भी इस तथ्य को कहते हैं कि शत्रु को कभी ढीला न छोड़े, अन्यथा वह कभी भी अवसर पाकर अपने लिये हानि-कारक हो सकता है।

पुरानी कथा-कहानियों में भी यह उपदेश भरे पड़े हैं। देवताओं और दैत्यों के युद्ध भी प्राचीन काल में होते रहे हैं, जिनमें देवगण दयावश बहुत बार पराजित दैत्यों को छोड़ देते थे। किन्तु दैत्यगण जब-जब भी अवसर देखते, देवताओं पर आक्रमण किये बिना न रहते थे। इसके फलस्वरूप देवताओं को राज-पाट से वंचित हो जाना पड़ता और वे अन्य प्रकार से भी बड़ी हानि उठाते थे।

ऐसा ही उस समय हुआ जब कंस-वध के पश्चात् जरासन्ध ने मथुरा पर आक्रमण किया और पराजित हुआ। वह आक्रमण भी सत्रह

बार ही हुए और जरासन्ध को हर बार हार कर भागना पड़ा। अठारहवी बार उसने जोरदार आक्रमण किया, इसलिये कृष्ण को मथुरा छोड़ कर द्वारिका की ओर प्रस्थान करना पड़ा।

इतिहास से यह मालुम होता है कि ईसा की बारहवी शती के अन्त तक गोरीवश का भारत पर अधिकार हो गया। तेहरवी शती मे तो विहार, आसाम, बंगाल, गुजरात, मालवा आदि प्रदेश भी हिन्दुओ के हाथ से निकल गये। चौदहवी शती मे दक्षिण सहित समस्त भारतवर्ष पर विधर्मियो का अधिकार हो गया।

यदि इसके कारणो पर दृष्टिपात करें तो यह बात समझ मे आयेगी कि उस समय किसी प्रकार हमारी धार्मिक-एकता मे व्यवधान उपस्थित हो गया और सगठनात्मक दृष्टि से हम दुर्बल हो गये। हमने अपने व्यक्तिगत बचाव में स्वयं को ही खो दिया। सभी अपनी-अपनी फ़िक मे रहे और उन्होने यह देखने का प्रयत्न शायद कम ही किया कि आज जो सकट हमारे पड़ौसी राज्य पर है, कल हम भी उससे बच नही सकेंगे।

वस्तुत सुबुक्तगीन के आक्रमण से सौ, दो-सौ वर्ष पहिले से ही समाज मे आलस्य, स्वार्थपरता, विलासिता आदि का घुन लग गया था। जब किसी सकट की आशका कम रहती हैं, तब मनुष्य कुछ निश्चिन्त और असावधान-सा हो जाता है। यही निश्चिन्तता या असावधानी मनुष्य की शक्ति को क्षीण कर देती है। उस स्थिति मे संगठन भी कुछ बिखर-सा जाता है।

और उस स्थिति मे जो विपरीत घटनाएँ घटती है, उनके मूल कारण पर हमारा ध्यान नहीं जाता। हम यही मान कर सन्तोष कर लेते हैं कि इसके घटित होने मे दैव-योग ही मुख्य है। ऐसा होना ही था तो रुकता भी कैसे? आस्था की दृष्टि से यह मान्यता अपना अस्तित्व रखती हुई भी मनुष्यो को निष्क्रिय बनाने लगती है। इससे हम आलसी

और दुर्बल होने लगते हैं। हममें जो शौर्य और साहस का गुण रहना चाहिये वह लोप होने लगता है।

हमारे देश की अवनति में इस विचारधारा का बहुत कुछ योग रहा है। इसी प्रकार के विचारों ने हमारी गुलामी की जंजीरें मजबूत कीं। हम यह कह सकते हैं कि इस अवसर पर हम अपना समस्त तत्वज्ञान, समस्त कर्त्तव्य और संगठन-शक्ति को भूल बैठे। हममें से अनेकों ने आक्रान्ताओं का साथ इसलिये दिया कि उनके सुख, वैभव और मान-सम्मान में कमी न आने पाये। उन्होंने अपने मत: संतोष के लिये दूसरों का बलिदान करने में भी कोई कसर न रखी।

इसका तात्पर्य है कि हम जिस धर्म के, जिस कर्त्तव्य के पालन में अपने को लगाये रखते थे, जिस सिद्धान्त का आश्रय लिये हुए थे, इस आपात् काल में उसे भूल गये। वरन्, आपात-काल की उपस्थिति का कारण ही यही था कि हमने अपने धर्म के प्रति तो उपेक्षा की ही थी, संगठन में ढील दे बैठे थे। हिन्दू-समाज की अवनति का मुख्य कारण यही था। क्योंकि जब हम धर्म का त्याग करते है, तब वह विकृत होने लगता है और जब धर्म विकृत होता है तब भयंकर रूप धारण कर लेता है। विकृत धर्म ही विनाश का कारण बन जाता है, किन्तु हम उसके प्रति अनजान और बेहोश बने रहते हैं। होश तब आता है जब चिड़ियाएँ खेत चुग चुकी होती हैं। कोई कह सकता है कि जब खेत नष्ट ही हो गया तब पछितावा करने से भी क्या लाभ हो सकता है ?

संगठित समाज की पृष्ठ भूमि–

संगठन ही समाज की शक्ति है। यदि संगठन के प्रति किसी भी रूप में उपेक्षा रहे तो वह समाज को दुर्बल बनाने में एक मुख्य कारण होता है। समाज पर सर्वाधिक प्रभाव पूर्व परम्पराओं का पड़ता है, किन्तु देश-काल के अनुसार उसमें बदलाव भी आने लगता है।

परम्परागत आचार-विचार, सुख-दुःख, आकांक्षा आदि की दृष्टि से जितनी अधिक एक रूपता होती है मनुष्यों में, समाज के संगठित होने के उतने ही अधिक अवसर रहते हैं। जहाँ संस्कृति की भिन्नता हो, रीति-रिवाजो की भिन्नता हो, वहाँ समाज का एकरूप रहना कदापि सम्भव नहीं।

मनुष्यो की आर्थिक असमानता भी कभी-कभी बड़ी हानि पहुँचाती है। एक इतना गरीब हो कि एक बार भी भरपेट भोजन न कर सके, और दूसरा इतना अमीर हो कि खाद्य-सामान व्यर्थ फेंक देता हो, अनाप-शनाप खर्च करता हो विलासिता मे, तो अनुमान लगाइये कि गरीब पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? और क्या वह विद्रोही न बन जायगा ? और यदि कोई वर्ग विद्रोही रहता है, चाहे भीतरी तौर पर ही क्यो न हो, तो क्या उससे समाज की एकता को ठेस नहीं पहुँचेगी ?

यह सब ऐसी बातें हैं जिनसे संगठन और विघटन के विषय मे हमे पूरी जानकारी हो सकती है। हम उसमे बहुत कुछ सावधान हो सकते हैं और समाज को विघटित होने से बहुत कुछ बचा सकते हैं।

आवश्यकता इस बात को नही है कि कोई एक धनवान अपने धन को गरीबों मे बाँट दे। उससे कोई बहुत बडा लाभ भी होने वाला नही है। मान लीजिये कि किसी के पास एक लाख रुपया है और वह उसे पाँच सौ व्यक्तियो मे बाँट दे प्रत्येक को दो-दो सौ रुपये मिलेंगे। इससे बाँटने वाला लखपती तो खाकपति हो ही गया, उन गरीबो का भी दो-दो सौ रुपयो से कोई विशेष लाभ नही हुआ। उसके लिये एक उपाय किया जा सकता है, वह यह कि सभी धनवान थोड़ा-थोड़ा अंश-दान किसी रूप मे करके उस निर्धन वर्ग को ऊँचा उठाने के प्रयत्न मे लगें। यदि वह प्रयत्न सामूहिक रूप से किया जाय तो उससे बहुत कुछ लाभ

उठाया जा सकता है। नीतिकारों ने इसी दृष्टि से कहा है कि सभी के प्रति उदारता का व्यवहार करो। किन्तु कुछ अडियल व्यक्ति उदारता को भी दूसरे की कमजोरी समझ बैठते हैं। जहाँ ऐसे लोग हों उनकी उपेक्षा भी करनी पड़ सकती है।

साम्यवाद भी अर्वाचीन नहीं—

प्राचीन काल में वर्ग-भेद भी था और वर्ण-भेद भी। गरीब-अमीर का अन्तर भी वर्तमान काल के समान था। आज के साम्यवादी देश भी इस अन्तर से बचे हुए नहीं हैं। वहाँ भी जिसका जैसा कार्य है, वैसी ही आय उसे होती है और आय के अनुसार ही उसका व्यय तथा शान-शौकत होती है। इससे लगता है कि साम्यवाद का दावा करने पर भी उद्देश्य के अनुसार तो उसका निर्वाह हो ही नहीं सकता।

यों तो साम्यवाद भी कोई नई बात नहीं है। इसका आरम्भ तो वैदिक काल में ही हो गया था। ऋग्वेद में ऐसी अनेक ऋचाएँ मिलती हैं, जिसमें इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि जिनके पास आवश्यकता से अधिक धन है, उसे उनसे छीन कर हमें दो। यह भी हो सकता है कि साम्यवादी विचार धारा वैदिक काल से पहिले से भी रही हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।

किन्तु प्राचीन कालीन वर्ग-भेद भी कुछ इस प्रकार का था कि गरीब की भी इज्जत कम नहीं थी समाज में। कोई व्यक्ति अल्पधन वाला है तो उसका सम्मान न किया जाय, ऐसी भावना उन दिनों नहीं थी। क्योंकि किसी के सम्मानित होने का माप-दण्ड उसके गुण होते थे, धन नहीं।

वर्ण-भेद में भी किसी को हेय दृष्टि से देखना उचित नहीं समझा जाता था। कुछ छुआछूत होते हुए भी सम्बोधन में चचा, ताऊ आदि

के प्रयोग आयु के अनुसार किये जाते थे। शूद्र भी यदि आयु-वृद्ध होता तो उस प्रकार के सम्बोधन का पात्र समझा जाता। शूद्र की पुत्री के साथ पुत्री या बहिन जैसा वर्ताव किया जाता था। और इस प्रकार सम्बोधनात्मक नाते ही सब वर्णों मे भवात्मक एकता बनाये रखने मे सहायक होते थे वर्तमान समय मे भी कही-कही देखते हैं कि हरिजन (मेहतर) की बहिन, बेटी के प्रति उसी प्रकार के सम्मान और स्नेह सूचक शब्दो का प्रयोग किया जाता है।

थोड़ा-सा सम्मान और स्नेह ही बहुत कुछ बन जाता है। विशेषकर छोटे वर्ग या नीचे वर्ण के लोगो के साथ यह किया जाय तो वह भी अपने को सम्मानित मान कर उच्च वर्ग या वर्ण वालो अधिक से अधिक सम्मान देने को तत्पर रहेगा। किन्तु वर्तमान समय मे मनुष्यो के मन-मस्तिष्क ऐसे बदल गये हैं कि वे निम्न वर्ग के प्रति तो क्या, अपने ही वर्ग-वर्ण के सम्मानित व्यक्तियो के प्रति भी सम्मान प्रदर्शित करने मे अपना अपमान समझते हैं। जिन वयो-वृद्धो और मेधावीजनो को प्रणाम करना चाहिये, उनसे हाथ मिलाने का प्रयत्न करते हैं। यदि अभिवादन भी करते हैं तो सिर हिला देने मात्र से। यह अहकार की बात है जो हमे भावनात्मक दृष्टि से भी नीचे गिरा रही है।

प्राचीन काल मे समाज-निर्माताओ ने शायद ऐसी कल्पना भी न की होगी कि उनके द्वारा बनाई जाने वाली व्यवस्था कभी ऐसा विकृत रूप भी धारण कर लेगी, जिससे सगठनात्मक दृष्टि से दृढ होता हुआ समाज कभी विघटन के कगार की ओर इतना अधिक बढ जायगा कि उसके गिरने की ही नौबत आ जायगी। उन्हे यह अशका ही न रही होगी कि मनुष्य मनुष्य मे भी परस्पर प्रेम-भाव नही रहेगा। उच्च लोग नीचो को हेय दृष्टि से देखेंगे और नीचे लोग भी ऊँचो के प्रति विद्रोह-भाव रखने लगेंगे। आज के युग में यह सब विघटनात्मक रूप से ही हो रहा है।

अब यह बात सहज में ही समझ में आ सकती है कि मनुष्य-मनुष्य में जब इतना बड़ा अन्तर दिखाई देता है, तब समाज संगठित किस प्रकार रह सकता है ? जब कुछ वर्ग, कुछ वर्गों को सदा सदा के लिये अपनी दासता में जकड़े रहना चाहते हों, समाज के टूटते जाने में आश्चर्य भी क्या हो सकता है ?

समग्र दृष्टि से देखें तो यह हिन्दू-समाज को अत्यन्त हानिकारक स्थिति में डालने के लिये पर्याप्त है। हमें इसके प्रति कुछ अधिक जागरूक होना होगा। अन्यथा धीरे-धीरे हिन्दुओं की संख्या घटती जायगी और विधर्मियों की संख्या में वृद्धि होती रहेगी। बुद्धिमानी इसी में है कि समय की गति देखी जाय और उसके साथ चलने का प्रयत्न किया जाता रहे।

वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था थी अथवा नहीं ? इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग उसका होना मानते हैं, कुछ नहीं मानते। जो नहीं मानते, वे वेदों के ही मंत्र उदाहरण स्वरूप उपस्थित करते हैं, जिनका अर्थ है कि समाज में छोटा-बड़ा कोई नहीं है। ऋग्वेद (५।६।६) के अनुसार—

> ते अजेष्ठा अकनिष्ठा उर्द्भदो। अमध्यमासो महसा विवावृधुः ॥

अर्थात् उनमें न कोई बड़ा है, न छोटा है और न कोई मध्यम ही है। सब परस्पर में बान्धव हैं तथा श्रेष्ठ भाग्य की प्राप्ति के लिये ही विकासशील हो रहे हैं।"

किन्तु यह ऋचा किसी वर्ण-भिन्नता के लिये हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। यह तो उपासकों के विषय में है कि वे सब समान हैं, उनमें छोटाई-बड़ाई आदि का कोई भेद नहीं होता। फिर भी उक्त मंत्र में बन्धु-भाव तो है ही।

संगठन का उद्देश्य समाज का उत्कर्ष—

जब हम श्रेष्ठ भाग्य की अभिलाषा करते हो, तब वह भी समान रूप से सम्मिलित प्रयत्न करने पर ही होता है। जब लोग सगठन मे बँधे होते हैं, तब समाज और देश के उत्कर्ष के लिये भी अपेक्षित प्रयत्न कर सकते हैं और उनका प्रयत्न, मफल भी हो सकता है। इसके विपरीत—बिखराव की स्थिति रहने पर तो अपकर्ष है। जो जाति बिखरी होती है, वह अपना विकास कर सके, यह प्राय: असम्भव ही है।

यह हम मानते हैं कि वेदों ने कहीं भी यह नहीं कहा कि छुआछूत का व्यवहार करो और किन्ही नीची जातियों को इतना हेय बना डालो कि उनकी छाया तक से बचना आवश्यक हो। यह धारणा तो वाद मे ही बनी और सम्भवत: कभी उसकी जरूरत अनुभव की गई हो। प्राय. देखते हैं कि सफाई करने वाले लोग गन्दे रहते हैं, वे सफाई के बाद अपने हाथ तक ठीक प्रकार से नहीं धोते, इसमे रोग के कीटाणु भी उनके साथ रह सकते हैं। इसलिये इस तथ्य को भी वर्तमान समाज ने समझा है कि मफाई करने वाले लोगो को अपने कार्य के पश्चात् अधिक शुद्ध-स्वच्छ रहना चाहिये। अब कुछ समझदार व्यक्ति ऐसा करने भी लगे हैं।

हमे सभी पहलुओ पर गम्भीरता से विचार करना होगा। हम नही कहते कि वर्ण-व्यवस्था या वर्ग-भेद के कारण समाज को टूटने दिया जाय। वरन् हम यह कहते हैं कि सावधानी पूर्वक सभी की भावनाओं पर ध्यान दिया जाय और तब समाज को सगठित करने में जो कार्य अपेक्षित हो, वह किया जाय।

भारतवर्ष मे दोनो प्रकार की विचारधाराएँ पनप रही हैं। कुछ लोग नि.स्वार्थ भाव से राष्ट्रीय एकता को महत्व देते हैं, जो कि सराहनीय कार्य है। किन्तु कुछ लोग अपना राजनैतिक महत्व स्थापित करने

की दृष्टि से ही अनेक प्रकार की बातें फैलाते हैं, जिसमें देश की बहुत हानि हो रही है। वर्तमान समय में देश का वातावरण दस्यु-समस्या के कारण भी अशान्त हो गया है। राजनैतिक लाभ की दृष्टि से अनेक व्यक्ति ऐसा प्रचार करते हैं कि किसी एक वर्ण के लोगों पर दूसरे वर्ण के लोग अत्याचार कर रहे हैं।

हो सकता है कि यह बात कहीं-कहीं ठीक भी हो, किन्तु समस्त घटनाओं में यह ठीक हो, ऐसा मान लेना कुछ कठिन ही है। अनेक स्थानों पर पारस्पर विद्वेष के कारण भी घटनाएँ घटित हो जाती हैं। विद्वेष का यह ज्वालामुखी कुछ गाँवों में अधिक फूटता है। उस समय वहाँ किसी वर्ण-विशेष का नहीं, दलबन्दी का प्रश्न अधिक होता है।

अब जब अपराधी प्रवृत्ति की बात आती है तो यह भी मानना होता है कि अपराधी प्रवृत्ति के लोगों का कोई वर्ण नहीं होता। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी हो सकते है। फिर भी वैश्यों में भीरुता अधिक होती है, इसलिये उनमें अपराधी प्रवृत्ति अन्य वर्णों की अपेक्षा कम ही मिलती है।

इस प्रकार के पारस्परिक द्वेष-भाव भी प्राचीन काल से ही मनुष्यों में चले आ रहे हैं। राज्य-स्तर पर तो लड़ाइयों के इतिहास ही उपलब्ध हैं। व्यक्ति-स्तर की घटनाएँ प्रायः इतिहास की वस्तु नहीं होतीं, इसलिये उनका उल्लेख भी नहीं मिल पाता। फिर भी कभी-कभी कुछ वैसी घटनाएँ भी घटित हो ही जाती हैं। किन्तु उनका आधार प्रायः वर्ण-व्यवस्था न होकर, कुछ और ही होता है।

किन्तु वैदिक शिक्षा को आधार मान कर चलें तो हम अपने को अधिक सुदृढ़ कर सकते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है— 'यज्ञियासः पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्' अर्थात् "मेरे अग्निहोत्र को—यज्ञ को सभी यज्ञ करने वाले पंचजन करें।" इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि यज्ञ का निषेध किसी भी जाति के लिये नहीं है।"

हठधर्मी से काम क्यों लें ?–

जब किसी जाति के लिये यज्ञ जैसे पुण्यतम कर्म का किसी जाति विशेष के लिये निषेध नही, तब उसे किसी भी प्रकार से की जाने वाली उपासना का निषेध भी नही हो सकता। जो लोग ऊँच-नीच को अधिक मान्यता देते हैं, उनके विचार मे किसी अस्पर्श जाति के मनुष्य को न तो देवोपासना का अधिकार है, न देव-दर्शन का। परन्तु ऐसा कब होना चाहिये ? जब कि वह गन्दा हो, अशुद्ध हो और यह स्थिति उच्च वर्ण वालों के लिये भी इसी प्रकार है ! यदि कोई उच्च वर्ण का मनुष्य भी, चाहे वह ब्राह्मण ही क्यो न हो ? अशौचावस्था मे देवता के पूजन-दर्शन आदि का अधिकारी नही होता।

और जब ऐसी स्थिति है तब हमे हठधर्मी से काम क्यो लेना चाहिये ? हमे समझना चाहिये कि हठधर्मी कभी-कभी तो बहुत ही हानिकारक सिद्ध होती है। हठधर्मी के कारण बहुत बार विपरीत परिणाम होते देखे गये। न जानें कितने राज्य बदल गये और विजय की आशा पराजय मे बदल गई।

समय परिवर्तनशील है, समय के साथ ही मनुष्यो के स्वभावो मे बदलाव आता है। प्राचीन काल मे मनुष्यो मे हठधर्मी नहीं रही। यदि रही भी तो उतनी ही जितनी कि आवश्यक समझी गई। मनुष्य पहिले समाज का हित देखता था, बाद मे अपना। इसके विपरीत—आज का मनुष्य अपना हित पहिले देखता है। समाज या राष्ट्र हित की आड़ मे भी वह यही चाहता है कि उसके अपने हित पर कोई आंच न आने पाये। अब तो ऐसी घटनाएँ भी सुनने मे आती हैं कि अमुक व्यक्ति ने किसी दूसरे देश को अपने देश के भेद बेच दिये। अमुक व्यक्ति अपने देश में रह कर ही दूसरे देश के लिये जासूसी करता पाया गया। और भी अनेक प्रकार के मामले सुनने-पढने मे आते हैं, उन सबका परिणाम देश की क्षति के रूप मे सामने आता है या आ सकता है।

यह सभी कार्य विघटनात्मक हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, समाज से अलग—अकेला रह नहीं पाता। वरन्, वह सदा ही समाज के एक अंग के रूप में सिद्ध होता। नहीं कहा जा सकता कि कौन मनुष्य, समाज के लिये कब उपयोगी सिद्ध हो? इसलिये किसी को भी अवहेलना के योग्य नहीं समझा जा सकता।

किन्तु सन्देहास्पद आचरण वाले व्यक्तियों की गति-विधियों पर दृष्टि रखना भी समाज-हित में अपेक्षित है। यद्यपि हमें परस्पर में विश्वास की भावना रखनी चाहिये। फिर भी परिस्थितियों के अनुसार चलना ही अपेक्षित है।

हमारी यह बातें अकेली वर्ण-व्यवस्था पर ही प्रकाश नहीं डालतीं। क्योंकि समाज के टूटने में तो जो कारण निहित है, उस पर समग्र रूप से दृष्टि डालनी होगी। जहाँ तक वर्ण-व्यवस्था का प्रश्न है, ऐसा लगता है कि उसकी उत्पत्ति वर्ग-भेद के कारण हुई। धनिक वर्ग ने निर्धन वर्ग को सदा ही दबाने का प्रयत्न किया है। और यह कहा जा सकता है कि धनवान सभी वर्णों में रहे हैं, और अब भी हैं। द्विजाति वालों में निर्धन-धनिक दोनों ही वर्ग है, उसी प्रकार शूद्रों में भी धनवान हैं। उनके यहाँ भी अनेक नौकर रहते हैं। अभी एक समाचार पत्र में बनारस के श्मशानों के ठेकेदार डोमों के विषय में पढ़ा था कि उनकी शान किसी बड़े हाकिम से कम नहीं है। उनको उनका इच्छित कर दिये बिना वहाँ शव का दाह-संस्कार नहीं किया जा सकता। पुराण-कथा के अनुसार राजा हरिश्चन्द्र को डोम की सेवा में ही श्मशान पर रहना पड़ा था और अपने ही पुत्र के शव के दाह संस्कार की आज्ञा तब दी थी, जब उनकी रानी शैव्या ने अपनी आधी साड़ी फाड़ कर दी थी। इससे स्पष्ट है कि बनारस के श्मशानों पर डोमों का वह आधिपत्य अब तक चला आता है।

यह भी पता चला ; कि भारत के एक भूखण्ड पर डोमों का राज्य भी रहा है। उनके राज्य को प्रमाणित करने वाले नगाड़े वहाँ आज भी रखे हैं। इससे यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि राज्य करना यद्यपि क्षत्रिय का कर्त्तव्य है तो भी भारत के कुछ भूभागों पर ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी राज्य करते रहे हैं।

इससे लगता है कि उस जमाने मे वर्णवाद का जोर नही, वरन् वर्गवाद का जोर ही अधिक रहा है। धनवान की दृष्टि मे निर्धन सदा हेय रहा है। कोई नीची जाति का धनिक भी किसी ऊँची जाति के धनहीन व्यक्ति को उचित सम्मान नही दे सका। वर्तमान मे भी वही स्थिति है।

इन तथ्यो से यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि वर्ण-व्यवस्था प्राचीन काल मे अधिक बलवती नही थी, वरन् सभी कुछ वर्ग-व्यवस्था पर चल रहा था। किन्तु कभी कोई धनवान किसी धनहीन गरीब से घृणा नही रखता था और न कभी असम्मान-सूचक व्यवहार ही करता था। इसलिये सभी परस्पर प्रेम पूर्वक रहते थे। अच्छे कर्म करने वालो का सम्मान भी अधिक था। इसीलिये क्षत्रिय राजा अपने राज्य काल मे ही राजर्षि और महर्षि तक हो जाते थे। अन्य जाति के लोग भी शुभ कर्मों के करने से महान बन जाते थे। जब तक वाल्मीकि डकैती और हत्याएं करते रहे, तब तक ब्राह्मण होते हुए भी वे चाण्डाल कहे जाते रहे। किन्तु जब उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हो गई तब वे महर्षि हो गये और उन्होंने आदि महाकाव्य रामायण तक की रचना कर डाली।

विवाह और वर्ण-भेद–

प्राचीन ग्रन्थो से ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि उस समय वर्ण से बाहर के किसी वर्ण मे, विजाति मे विवाह-सम्बन्ध का निषेध नही था।

किसी भी जाति के स्त्री-पुरुष, अपने से भिन्न जाति वालों से विवाह-सम्बन्ध कर सकते थे। किसी प्रकार के तर्क-वितर्क से काम नहीं लिया जाता था। सम्भवत: उस समय समान आहार-विहार और रीति-रिवाजों पर ध्यान दिया जाता रहा हो। सात्विक आहार-विहार वाले व्यक्ति अपने जैसे आहार-विहार वाले कुलों में ही विवाह करते रहे हों। क्योंकि यदि सात्विक आहार-विहार वाले कुल तामसिक आहार-विहार वाले कुल से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करलें तो उससे पति-पत्नी में विचारों का मेल न होने पर अनबान रह सकती है।

स्मृतियों में दो प्रकार के विवाहों का उल्लेख विशेष रूप में मिलता है—(१) अनुलोम, और (२) प्रतिलोम। उच्च वर्ण का पुरुष और नीचे वर्ण की स्त्री में हुआ विवाह-सम्बन्ध अनुलोम कहा जाता था। इसके विपरीत नीचे वर्ण के पुरुष और ऊँचे वर्ण की स्त्री के साथ होने वाला विवाह प्रतिलोम कहलाता था। प्राचीन काल में अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ही प्रकार के विवाह पर्याप्त रूप में होते थे।

किन्तु अनेक शास्त्रकारों ने प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तान को शूद्र वर्ग के अन्तर्गत माना। कुछ शास्त्रकार तो अनुलोम-सन्तान को भी शूद्र ही कहते थे। शास्त्रों में उन-उन व्यक्तियों और वंशों के परिचय भी मिलते हैं, जिन्होंने इस प्रकार के विवाह किये थे। किन्तु यहाँ उन सबका वर्णन अपेक्षित नहीं। इतिहासकारों का कथन है कि ईसवीं नवीं और दसवीं शती तक इस प्रकार के अन्तर्जातीय विवाह चलते रहे, पश्चात् उनमें व्यवधान उपस्थित हो गया।

ब्रह्मज्ञान में वर्ण का बन्धन नहीं—

ब्रह्मज्ञान के कारण ही ब्राह्मण सर्वोच्च माने गये। किन्तु क्षत्रिय भी ब्रह्मज्ञानी हुए हैं। वस्तुत: ब्रह्मज्ञान का सम्बन्ध शरीर से नहीं, वरन् आत्मा से है और आत्मा का कोई वर्ण नहीं। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,

शूद्र सभी शरीरों में है। इसी कारण ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी हुए तो क्षत्रिय और वैश्य भी हुए। शूद्र भी कर्त्तव्यनिष्ठ और ज्ञानी हुए हैं। क्योंकि वे मन्त्रिपद तक तो पहुँचते ही थे। जो मंत्री होगा। वह धर्मज्ञ और नीति निपुण भी होगा ही। समाज, राष्ट्र और भगवान् के प्रति निष्ठा भी उसमें होनी ही चाहिये।

फिर शूद्र मन्त्रिपद तक ही पहुँचे हों, यह भी सीमित नहीं। उन्होंने राजपद भी प्राप्त किया था, इसके बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं। यह तो इतिहास की ही बात है कि भारतवर्ष का प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य जाति से शूद्र ही था। उसी का पुत्र बिन्दुसार और पौत्र अशोक हुआ। सम्राट् अशोक के नाम से उसे कौन नहीं जानता ? जब पितामह शूद्र तो पौत्र भी शूद्र होगा ही।

इससे यह धारणा पुष्ट होती है कि जन्म से वर्ण और कर्म का निश्चय किया जाना कठिन तो है ही, अनुचित भी है। यदि किसी में सम्राट् बनने की योग्यता है तो वह क्षत्रिय न होते हुए भी या शूद्र होते हुए भी अपनी शक्ति से, बुद्धि से, शौर्य से सम्राट् बन जाता है तो फिर उसे रोक भी कौन सकता है ? इसी प्रकार कोई अब्राह्मण ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा और प्रयत्न करता है तो उसे भी ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति से वंचित कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि यह सब उसकी अपनी लगन पर, अपनी निष्ठा पर, अपने विश्वास पर निर्भर करता है।

———

वर्ण व्यवस्था की विकृतियाँ ही हिन्दू समाज को निर्बल करती रही हैं

समाज में समता और एकता की स्थिति—

शास्त्रों में कहीं-कहीं भोजन-व्यवहार आदि विषयक बन्धन भी देखने में आते हैं। सामान्य स्थितियों में उन बन्धनों का पालन भी कुछ कड़ाई से किया जाता रहा हो तो कुछ सन्देह नहीं। किन्तु जब कभी कोई आपात्-स्थिति होती—युद्ध-काल अथवा वैसा ही कुछ, तब किसी भी वर्ण का व्यक्ति कहीं भी भोजन करने में स्वतन्त्र था। जहाँ सामान्य स्थिति में शूद्रों के हाथ का छुआ हुआ जल पीने का भी निषेध रहा, वहाँ आपात्-काल में शूद्र के यहाँ का भोजन करना भी अनुचित नहीं माना गया। शरीर और जीवन-रक्षा के हित में सभी कुछ ग्रहणीय रहा है।

वर्तमान समय में कहा जाता है कि शूद्र को मन्त्र का, ब्रह्मचर्य और संन्यास का अथवा गायत्री या ओंकार के अनुष्ठान का अधिकार नहीं है। किन्तु कुछ शास्त्रों और स्मृति ग्रन्थों में तो इसका निर्देश भी उपलब्ध है। प्राचीन काल में कोई भी व्यक्ति गायत्री आदि मंत्रों का अनुष्ठान करने में स्वतंत्र था। ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर शिक्षा प्राप्त करने और गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास धारण का अधिकार भी रखता था।

बाद में जब मनुष्यों में अहंकार की भावना अधिक बढ़ गई, तब उन्होंने ऊँच-नीच एवं स्पर्श्य, अस्पर्श्य की विचारधारा को अधिक विस्तृत किया। यदि उन दिनों इस विषय में कुछ उदारता और

बुद्धिमत्ता से काम लिया जाता तो शायद वर्ण-व्यवस्था का हलाहल इस रूप मे अधिक नही फैल पाता।

और विष-वृक्ष का यह फैलाव अपने ही देश मे हिन्दू-समाज के अधिक पराभव का कारण बना। ईसा की एक हजारवी शती तक हमारा देश सब प्रकार से सुदृढ और अधिक वैभवशाली रहा है। किन्तु बाद मे कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुई, जिनके कारण हमारा उत्कर्ष अपकर्ष के रूप मे बदल गया।

ईसा से साढे पांच सौ वर्ष तक का समय भारतवर्ष मे गणराज्यो का समय रहा है। इस अवधि मे यहाँ अनेक गणराज्य अव्यवस्थित ढंग से शासन चलाते रहे। इनमे मौर्य, नन्द, शुंग, सातवाहन, कुशाण आदि वंशो के साम्राज्य प्रसिद्ध रहे। उनका वैभव और बल सभी कुछ अत्यन्त बढा-चढा था।

इन सब गणराज्यो मे राज्य-शासन मे प्रजा की सम्मति भी ली जाती थी। उसे शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक पद दिये जाते थे। प्रजा के सभी वर्गों मे एक अभिमान था अपने राज्य होने का। क्योंकि बालिग मताधिकार भी उस समय रहता था। सम्राट् तो वंशानुसार रहते ही थे, किन्तु मन्त्रि-परिषद् के अधिकाश सदस्य जनता के चुने हुए होते थे।

एक बात यह भी थी कि जनता के प्रत्येक वर्ग को शस्त्र रखने का अधिकार था। बाद मे भी उसे जो छोटी-छोटी रियासतें बनी, उनकी प्रजा के लोग तलवार, भाले आदि रखते थे। उस समय घर-घर मे तलवारें देखी जा सकती थी। आवश्यक नही था कि उन्हे क्षत्रिय ही रखें। सभी वर्ण हथियार रखते, एक निश्चित अवधि मे उनकी सफाई करते तथा दशहरा जैसे त्यौहारो पर उन (हथियारो) का पूजन भी करते थे।

और यह सभी बातें जातिगत समता व्यक्त करती थीं। जब किसी देश में विषमता न हो तो वहाँ की समता और एकता बड़ी भारी शक्ति बन जाती है। जब मनुष्य-मनुष्य एकता के भावों में निहित हों तब विघटन की स्थिति का कोई कारण ही नहीं हो सकता। इसीलिये उस समय भारतवर्ष की संगठनात्मक शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, जिसके कारण विदेशियों को लोहे के चने चबाने होते थे। वे या तो यहाँ मर-खप जाते अथवा भाग जाते।

समता से बन्धुत्व की भावना का उदय होता है। आरम्भ में जो राज्यों के रूप में कहीं भी किसी शासन-शक्ति का गठन नहीं हुआ था। छोटे-छोटे समूहों, गाँवों, समाज आदि के रूप में मनुष्य एकत्र होते और अपना मुखिया या पंच चुन लेते। बाद में समूहों की वृद्धि कई गाँवों के मिलने से होने लगी और तब सबल शासन तन्त्र की आवश्यकता भी अनुभव में आई। शासन के प्रमुख को राजा का नाम दिया गया, किन्तु उसका चुनाव प्रजा ही करती थी। बाद में यह परिपाटी चली कि जो राजा बना उसी के वंश को राज्य करने का अधिकार हुआ। किन्तु उस स्थिति में भी गद्दी पर बैठने वाला राजा अपने मंत्रियों, सेनाधिकारियों और प्रजाजनों का विश्वास अर्जित करता था और सदैव सभी वर्गों में सामञ्जस्य स्थापित रखने का प्रयत्न करता रहता। उसकी दण्ड व्यवस्था भी इसी के आधार पर रहती थी।

समयानुसार रूढ़ियों का निर्माण—

कुछ इतिहासकारों का मत है कि समाज के साथ रूढ़ियाँ भी बनीं। वस्तुतः जितने भी नियम बनाये जाते हैं, समय की आवश्यकता के अनुसार उनका प्रयोग होता है। जब जिस नियम की अपेक्षा न रहे, तब वह निरस्त किया जाना ही हितकारी रहता है।

किन्तु हिन्दू-समाज मे बने हुए नियम रूढियो का रूप लेते रहे। जब उनकी आवश्यकता न रही, तब भी वे प्रचलन मे रहे। इस कारण समाज लकीर का फकीर हो गया। उसकी दृष्टि 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' की मान्यता ही उचित थी। किन्तु उन वाक्यो, उन नियमो, उन रूढियो से समाज को जो हानि हो रही थी, उसकी ओर किसी का भी ध्यान नही था। उन्होने यह समझने की चेष्टा नही की कि समाज मे प्रचलित अनेक रूढियाँ उसके विघटन का कारण बनती जा रही हैं।

शास्त्रकारों का मन्तव्य समाज को संगठित करने का रहा था और उन्होने बहुत सोच-विचार कर वर्णाश्रम धर्म आदि की व्यवस्था दी थी। उनमे समय-समय पर परिवर्तन भी होते रहे, यह तथ्य विभिन्न स्मृति-ग्रन्थो के अवलोकन से उजागर हो जाता है।

किन्तु बाद मे समयनुकूल व्यवस्था देने वाले शास्त्रज्ञ विद्वान् या तो इस ओर से उदासीन हो गये अथवा उनका प्रभाव ही कम रहा, अन्यथा धर्म की आड़ मे समाज के विघटन का कार्य इस प्रकार से न हो पाता कि एक वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथक् कर दिया जाय अथवा वर्णों और जातियो मे पारस्परिक घृणा फैला दी जाय। इस प्रक्रिया मे वर्ण-वर्ण मे ही विद्वेष नही फैला, व्यक्ति-व्यक्ति तक मे विद्वेष भाव उत्पन्न हो गया।

इस प्रकार विद्वेष की लहर बढती गई, बढती गई। समूहो मे विघटन रूपी दरार पडी और चौडी होती चली गई। उसके फलस्वरूप सक्षित धर्म भी अरक्षित हो गया। धर्म पर आँच आई तो सस्कृति भी उसमे झुलसने लगी। क्योकि एक ओर मिथ्या गर्व था तो दूसरी ओर उत्पीडन का अनुभव। गर्वित मनुष्य अपने अहं मे भरा था और अपमानित मनुष्य विद्रोही होता जा रहा था। उसी स्थिति मे समाज में अनेक प्रकार के विघटनकारी बन्धन मजबूत होते जा रहे थे। वे बन्धन वेद-निषेध, रोटी-बेटी-निषेध तथा अस्पृश्यता आदि के रूप मे थे।

उपनिषद् बताते हैं कि ब्रह्मविद्या में जो बढ़ा-चढ़ा होता, उससे ज्ञान प्राप्त करना उचित माना जाता है। इसी कारण ब्राह्मण भी ब्रह्मज्ञानी क्षत्रिय से शिक्षा प्राप्त किया करते थे। इस प्रकार के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनकी चर्चा की जा चुकी है। किन्तु राजा अजातशत्रु ने इस प्रथा को अनुचित माना और तब से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के रूप में चलने वाली वर्ण-व्यवस्था जन्म पर निर्भर हो गई। एक वृत्तान्त है कवष एलेपु का जो यज्ञ की दीक्षा लेकर ब्राह्मणों के मध्य बैठा था, किन्तु ब्राह्मणों ने दासी-पुत्र कह कर वहाँ से भगा दिया।

इससे यह तो सिद्ध होता है कि बाद में जन्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था चल पड़ी होगी। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता कि मनुष्यों को उनके श्रेष्ठ गुण-कर्म आदि के आधार पर सम्मान प्राप्त न हो। अनेक घटनात्मक प्रसंग इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि मनुष्यों को उनके गुण-कर्मानुसार प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा मिलती थी। किन्तु बाद में उस स्थिति में भी परिवर्तन हो गया। गुण-कर्म प्रतिष्ठा का आधार न रहा, बरन् वह जन्म पर निर्भर हो गया। कोई मूर्ख, निरक्षर भी यदि जन्म से ब्राह्मण हुआ तो समाज में उच्च स्थान पाता रहा। इसके विपरीत—अब्राह्मण विद्वान् को भी वह प्रतिष्ठा प्राप्त न हो सकी।

जब मनुष्य योग्यता के अनुसार सम्मान प्राप्त नहीं कर पाता, तब उसका अर्थ होता है उत्कर्ष में बाधा। क्योंकि उसे जो उत्कर्ष का अवसर मिलना चाहिये, उससे वह वंचित है। ऐसा मनुष्य समाज के प्रति उदासीन ही नहीं होता, बरन् विद्रोही भी बन जाय तो क्या आश्चर्य? फिर भी हम आशा करें कि वह व्यक्ति समाज से प्रेम रखेगा तो उस आशा का आधार भी क्या हो सकता है?

वस्तुतः समाज की ऐसी विकृत व्यवस्था ही हिन्दुओं को दुर्बल बनाने वाली रही है। जब उत्कर्षशील व्यक्ति को अपने उत्कर्ष का मार्ग बन्द दिखाई देता है, तब वह उस मार्ग को बढ़ता है जो उसे खुला हुआ दिखाई दे। उस स्थिति मे वह अपने धर्म को भी भूल जाता है और धर्मान्तरण की दिशा मे प्रवृत्त हो जाता है। यही कारण रहा कि बहुत-से नीच जाति के हिन्दू अपना धर्म छोड कर विधर्मी बन गये और उनके हृदय मे स्वधर्मियो के प्रति ही विद्रोह की आग धधकने लगी।

हिन्दू समाज क्यों टूटता रहा–

बौद्ध और जैन धर्मों मे इस विषय मे अधिक उदारता रखी गई। इस कारण बहुत-से शूद्रो ने इन धर्मों को स्वीकार कर लिया। यद्यपि हिन्दू धार्मिक इससे कुछ सतर्क तो हुए, किन्तु अपनी हठधर्मी को किसी भी दिशा मे न छोड सके। इसके फलस्वरूप अधिकाश शूद्र हिन्दू-धर्म छोडने मे ही अपना हित समझने लगे। तब से अब तक यही होता रहा है। हमारी भूलो ने ही हमारे समक्ष विधर्मियो की इतनी बडी जनसख्या खड़ी कर दी है। आधुनिक काल मे भी डॉ० अम्बेडकर और उनके अनुयायी हिन्दू-धर्म को छोडकर बौद्ध धर्म मे चले गये।

इस प्रकार हिन्दू-समाज दिन पर दिन टूटता रहा है। अब भी टूट रहा है, किन्तु हम उस सब को देखते हुए भी उदासीन ही बने हुए है। प्राचीन समाज ने समता-भाव को दृढ करने का प्रयत्न किया, जबकि अर्वाचीन समाज विषमता को बढ़ावा दे रहा है। यही कारण है कि ब्राह्मणेतर लोग ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आवाज उठाने लगे हैं। हम नही कहते कि वह आवाज निष्पक्ष ही हो सकती है, वरन् हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि उच्च वर्ण वालों को वर्तमान परिस्थितियो पर ध्यान देना चाहिये और अपने को उनके अनुकूल ढालना चाहिये, जिससे

कि स्थिति में अब अधिक बिखराव उत्पन्न न हो सके। यदि समय रहते चेत जाया जाय तो भी समाज का बहुत कुछ हित-साधन किया जा सकता है।

वर्ण-व्यवस्था को जन्म से मान कर उसके प्रति कट्टर निष्ठा रखने के कारण नीचे वर्ण के लोगों को समुचित न्याय नहीं दिया जा सका। वरन् बुद्धिजीवियों में पक्षपात की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। जब कभी किसी प्रकार की क्षति हो जाती है, तब उसकी पूर्ति उस रूप में होना कठिन होता है। इसी कारण गाँठ का जो वैभव निकला, वह निकलता ही चला गया। उसकी किसी प्रकार रोक-थाम न हो सकी।

न्याय भी उच्च जातियों के पक्ष में अधिक जाता था। भिन्न-भिन्न वर्णों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्ड-विधान थे। किसी भी अपराध में ब्राह्मण को कम से कम दण्ड दिया जाता था, जबकि शूद्र को अधिक से अधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था थी। इसलिये बाद के कुछ शास्त्रकारों ने भी शायद उसे उचित नहीं माना और जो साधारण-सा दण्ड ब्राह्मण के लिये निश्चित किया गया था, उसके विषय में उन्होंने कहा कि वह नियम सामान्य ब्राह्मण जाति वाले के लिये नहीं, वरन् श्रोत्रिय (वेदज्ञ और याज्ञिक आदि) के लिये है। कुछ विद्वानों ने दण्ड-व्यवस्था में वर्णानुसार भेद की नीति को अर्थ वादात्मक माना और इसलिये उन्होंने उसमें कुछ एकरूपता लाने का भी प्रयत्न किया। स्मृतियों की कहीं-कहीं पृथक्-पृथक् व्यवस्था से ऐसा प्रकट भी होता है।

कुछ इतिहासकार ऐसा भी मानते हैं कि आरम्भ में समाज को पक्षपात से रहित रखा गया था, इसलिये उस समय पारस्परिक बन्धु-भाव में किसी प्रकार की कमी दिखाई न देती थी। बिना किसी वर्णभेद के लोग एक-दूसरे को प्रेम करते थे। भेद-भाव की नीति तो बहुत बाद

मे बनी और जब से वह नीति बनी, तभी से हिन्दू-समाज मे फूट उत्पन्न हो गई।

परन्तु, शायद उन शास्त्रकारो ने इस तथ्य पर उस समय कुछ ध्यान नहीं दिया होगा कि वर्ण-भेद वाली व्यवस्था के परिणाम बुरे निकल सकते हैं। न चाहते हुए भी, केवल ब्राह्मण जाति के हितार्थ व्यवस्था देने के कारण अन्य वर्णों के हित दुर्बल पड़ गये और वे उसे ब्राह्मणो का स्वार्थ-भाव समझ कर उनके बनाये हुए नियमों को नकारने लगे। किसी नियम के नकारने का अर्थ है, उसकी अवहेलना या विद्रोह। धीरे-धीरे ब्राह्मणेतर वर्ण विद्रोही होते चले गये। वह विद्रोह द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य) मे नही, शूद्रो मे अधिक फैला।

शास्त्रकार भी कभी एक मत के नही रहे, सभी ने अपनी-अपनी खिचडी प्रथक् प्रथक् पकाने का प्रयत्न किया है। इस विषय मे एक उदाहरण यही पर्याप्त होगा कि अम्बष्ठ जाति की उत्पत्ति वसिष्ठ स्मृति के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय से हुई, जबकि मनुस्मृति के मत मे वे ब्राह्मण पति और वैश्य पत्नी की सन्तान हैं।

अब कैसे समझा जाय कि कौन सही कहता है, उनके कथन का प्रभाव शूद्र वर्ण पर ही अधिक पडा है। धर्मशास्त्रो ने उसे सभी प्रकार के धर्म कर्म से वचित कर दिया और बुद्धिहीन मान कर पशु की श्रेणी मे ला खडा किया। उत्तरोत्तर इनके प्रति विपरीत धारणाएँ पनपने लगी। स्त्री को भी शूद्र ही कह दिया गया। तुलसी का रामचरित मानस कहता है—'ढोर गँवार शूद्र पशु नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी।' क्यो ? यह सब ताडने, मारने या अपमानित करने के योग्य क्यो समझे गये ? इसका उत्तर यदि तुलसीदास जीवित होते तो शायद वे भी नही दे पाते।

चलो, यह भी मान लें कि ढोर, गँवार शूद्र और पशु एक जैसे ही

हैं—उनमें बुद्धि का अभाव है। किन्तु स्त्री को उसी श्रेणी में रखने का कारण? वह तो मनुष्य मात्र की जन्मदात्री है। ब्राह्मण की उत्पत्ति भी तो स्त्री से ही होती है, फिर वह शूद्र क्यों कह दी गई? क्या इसे उन विद्वानों की सनक कहें अथवा कुछ और?

स्त्रियाँ तो बहुत-बहुत विदुषी हुई हैं हमारे देश में। उन्होंने बड़े-बड़े शास्त्रज्ञों को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया, इसलिये वे सर्वाधिक सम्मान की अधिकारिणी हैं। यदि कोई कहे कि उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार नहीं, तो वह उसकी भ्रान्ति ही होगी।

इसी प्रकार, शूद्रों को भी केवल पशु और धर्म-विहीन कहने मात्र से कोई लाभ नहीं हुआ। अच्छा तो यह होता कि जिसकी रुचि वेद-शास्त्रों के पठन-पाठन में देखी जाती, उस शूद्र को उस प्रकार की शिक्षा दी जाती, जिससे कि वे भी विद्वान् और धर्मज्ञ बन सकते।

सभी व्यक्तियों की बुद्धि समान नहीं होती। कुछ ब्राह्मण भी पशुओं के समान बुद्धिहीन देखे जाते हैं और कुछ शूद्र भी ब्राह्मणों के समान विद्वान् देखे जाते हैं। यही तथ्य क्षत्रियों और वैश्यों के विषय में है। उनमें भी बहुत-से तीव्र बुद्धि वाले, धर्मज्ञ, शास्त्र-निष्ठ देखे जाते हैं और बहुत-से मूर्ख भी। बहुत-से क्षत्रिय कायर भी हुए हैं और बहुत-से वैश्य व्यवसाय बुद्धि से रहित देखे जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि गुण-कर्म का भेद जन्म से नहीं, वरन् व्यक्ति के अपने पूर्व संस्कार वश ही होता है। इसलिये किसी विद्वान् के साथ पशु के समान व्यवहार या किसी निरक्षर मूर्ख के समान विद्वान् जैसा सम्मान किया जाना, वस्तुतः अनुचित और पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति का ही द्योतक है।

एक यह बात भी कही जाती है कि 'वेदमन्त्रों में जो स्वयं की ध्वनि-शक्ति है, उसका उत्पन्न होना एक विशिष्ट प्रकार के शब्द-संघात पर निर्भर है। और उस शब्द-संघात का उच्चारण केवल ब्राह्मण ही

ठीक प्रकार से कर सकता है। इसी कारण ब्राह्मण सर्वोच्च सम्मान का अधिकारी है।

किन्तु इस प्रकार के मत से यही क्यो मान लिया जाय कि जन्मानुसार उत्पन्न हुआ ब्राह्मण ही वेदो के शब्द-संघात के ठीक से उच्चारण मे समर्थ है। अन्य वर्ण में उत्पन्न वेदपाठी मनुष्य उसमे समर्थ क्यो नही? ऐसे अनेक व्यक्ति हुए हैं, जिनका वेद-मंत्र उच्चारण उच्चकोटि का रहा है। कहते हैं कि मथुरा नगर मे कोई सेठ थे कन्हैयालाल पोद्दार, जो बडे विद्वता पूर्ण ढंग से, उचित ध्वनि मे वेद-गान करते थे।

अस्पृश्यता का नया रोग–

अस्पृश्यता का रोग प्राचीन नही है। जो लोग ऐसा मानते हैं, वे भ्रम मे ही है। इतिहासकारो के अनुसार समाज मे अस्पृश्यता रूपी कोढ की उत्पत्ति ईसा की आठवी या नवी शती मे हुई। उससे पूर्व इसका नाम भी नही था। वेदो मे चाण्डाल, चर्मकार, पौल्कस नामों की चर्चा मिलती है, किन्तु वहाँ भी कही ऐसा मत नहीं मिलता कि यह लोग स्पर्श योग्य नही हैं।

इससे यह मानना होगा कि अस्पृश्यता की व्यवस्था किसी भी शास्त्र ने कभी नही की। यह सब बाद मे ही हुआ और शायद इसमे उन लोगो का, उन विधर्मियो का अधिक हाथ रहा हो जो हिन्दू समाज को विघटित करने मे ही अपना हित देखते हो। पैसे के बल पर ऐसे बहुत-से कार्य हो जाते हैं, जिनकी कभी कल्पना भी नही होती।

प्राचीन कालीन ऋषिगण सदैव निर्लोभ रहे। उनके लिये धन का महत्व किसी कंकड़-पत्थर से अधिक नही रहा। प्रथम तो वे पैसे के स्पर्श तक से बचते थे। उनका मत था कि जीवनोपयोगी वस्तुएँ अपेक्षित परिमाण में प्राप्त होती रहें, उससे अधिक का करना भी क्या है। इसी

कारण उनमें संचय-वृत्ति भी नहीं थी। वे सदैव स्वार्थ से ऊपर उठे रह कर आत्मोत्थान के लिये और जन-कल्याण के लिये प्रयत्नशील रहते थे। उनके द्वारा दी गई व्यवस्था में कभी किसी के प्रति पक्षपात नहीं होता था। चारों वर्णों के लिये धर्म-व्यवस्था समान थी। जो नियम प्रजा पर लागू होता, वही राजा और उसके परिवारीजनों पर।

उनका दृष्टिकोण सभी के प्रति उदार रहा और उन्होंने सभी के उत्कर्ष की बात सोची। वे नहीं चाहते थे कि समाज पतनोन्मुख हो अथवा विघटन की ओर बढ़े। इसीलिये बड़ें-बड़े राजा भी उनकी सेवा में सादर उपस्थित होते, न्याय और शासन सम्बंधी समस्याएं उनके समक्ष रखते।

और इसके परिणाम भी सदा शुभ दिखाई देते। राजाओं को सही दिशा निर्देश, समस्याओं का सही समाधान वहीं मिल पाता। सभी वर्णों की और सभी वर्गों की उन ऋषि-महर्षियों में इसी कारण अटूट श्रद्धा थी कि वे जो कुछ कहेंगे, वह सब पक्षपात रहित ही होगा।

परन्तु समाज के अभ्युदय वाला यह दृष्टिकोण विगत एक हजार वर्ष के लगभग से समाप्त हो गया। इसका कारण भारत वर्ष में आये हुए विदेशी-विधर्मियों का षड्यन्त्र भी हो सकता है और उच्च वर्ण के लोगों की मनोवृत्ति भी। यदि हमने सोचा होता कि हमारी यह मनोवृत्ति कभी हमारे लिये ही घातक सिद्ध होगी तो शायद उस समय हम कुछ संभल गये होते।

धर्म की व्यवस्था और देश-काल–

धर्म की व्यवस्था सदैव देश-काल के अनुरूप रही है। ऐसा नहीं कि वह सदैव एक जैसी रही हो। समय-समय पर उसमें बदलाव आते रहे हैं। समय-समय पर धर्म की व्याख्या परिस्थितियों के अनुरूप की जाती रही है।

धर्म की गति गहन है, उसे समझने के लिये लकीर के फकीर बनने से काम नही चलता। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इस विषय में कहा है—

तस्मात् कौन्तेय विदुषा धर्माधर्म विनिश्चये।
बुद्धिमास्थाय लोकेस्मिन् वार्तेतव्यं कृतात्मना॥

अर्थात्—"हे कुन्तीपुत्र! विद्वान् मनुष्य को इस लोक मे बुद्धि के अवलम्बन द्वारा धर्म और अधर्म का निश्चय करके उसी के अनुसार व्यवहार करना चाहिये।"

किन्तु शास्त्र के अवलम्ब मात्र से किया जाने वाला धर्म-अधर्म का निश्चय, आवश्यक नही कि देश-काल के अनुरूप हितकर सिद्ध हो सके। इसलिये महाभारत के ही वन पर्व मे बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है—

देशकालौ तु संप्रेक्ष्य वलाबलमथात्मन.।
नादेशकाले किंचित् स्यात् देशकालौ प्रतीक्षताम्॥

अर्थात्—"देश, काल और बल-अबल का निश्चय करके ही प्रत्येक कार्य मे निर्णय ले। देश-काल के विपरीत कभी कोई कार्य नही करना चाहिये।

धर्म का निर्णय परम्परा से चली आती रूढियो केआधार पर करना अनुचित है। क्योकि पता नही, कौन-सी रूढि, कब किस आधार पर बनी और कब से निरन्तर चली आ रही है?

हो सकता है कि कोई भी रूढि कट्टर विचारधारा के आधार पर बनी हो और जब वह बनी हो तब उसकी उसी रूप मे आवश्यकता रही हो। क्योकि आवश्यकता ही आविष्कारो की जननी होती है। इसलिये समय-समय पर रूढियो के हितकर या अहितकर होने की परीक्षा होती

रहनी चाहिये। सम्भवतः पाराशर-माधवीय-बृहस्पति ने सब को दृष्टि में रखते हुए धर्म को तर्क की कसौटी पर कसने का निर्देश दिया हो। इस विषय में स्पष्ट मान्यता बनी कि—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥

अर्थात्—"केवल शास्त्र का आश्रय लेकर ही धर्म का निर्णय नहीं करना चाहिये। क्योंकि तर्क-रहित विचार से धर्म की ही हानि होती है।"

किन्तु धार्मिकों में तर्क सुनने की सहिष्णुता नहीं थी, वे मानते थे कि धर्म धर्म है, जो परम्परागत चला आता है। उसके प्रति शंका या तर्क करना ही अधर्म है।

और जब हम धर्म को शंका और तर्क से परे मानते हैं, तब उसे पक्षपात-रहित भी कैसे बना सकते हैं? क्योंकि उसके मूल में पक्षपात भी हो सकता है और अनुदारता भी। उस समय शास्त्रकार का जैसा दृष्टिकोण रहा, उसने उसकी वैसी ही व्याख्या की किन्तु उसी व्याख्या को यथार्थ मानते हुए और उसी का अनुपालन करते हुए प्रभावित व्यक्तियों को अपमानित और उपेक्षित रहना पड़ा, इसलिये उन्होंने सोचा कि अब यहाँ हमारे लिये स्थान नहीं है।

समाज के विघटन का मुख्य कारण यही था। यदि उस समय भी प्रबुद्ध वर्ग कुछ सावधान हो गया होता तो शायद उन परम्परागत विचारों में परिवर्तन लाकर समाज की एकता की दिशा में बहुत कुछ बढ़ा जा सकता था। हम कह सकते हैं कि उस प्रकार के विघटनकारी शास्त्रों की जिन्होंने रचना की, वे ही उसके लिये जिम्मेदार हो सकते हैं। किन्तु क्या इस जिम्मेदारी से वे लोग बच सकते हैं जो उन विचारों

से सहमत रहे और जनता से उनमें निहित पक्षपातपूर्ण नियमों का पालन कराते रहे। उन्हें देखना चाहिये था कि क्या वे नियम समाज के लिये अब भी अनुकूल है? यदि अनुकूल नहीं तो उनका अनुपालन भी क्यों कराया जाय?

इधर समाज में घुन लग रहा था और उधर विधर्मियों की आँखें भारतवर्ष और उसकी सम्पन्नता की ओर लगी थी। ईसवी सन् एक हजार एक में जब महमूद गजनी ने इस देश पर आक्रमण किया, तो परतन्त्रता का उपहार वहीं से मिलता चला गया। हिन्दू-समाज ही हिन्दुओं को दुर्बल बनाता रहा। क्योंकि यहाँ उस समय पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष बढ़ रहा था। एक हिन्दू दूसरे हिन्दू के उत्कर्ष को देखना नहीं चाहता था। इसके विपरीत, वह इसके लिये तैयार था कि चाहे आक्रमणकारी विधर्मी की सहायता ही क्यों न लेनी पड़े?

उस समय अनेक विसंगतियाँ विद्यमान थी हमारे समाज में। उनके कारण लोगों में विक्षोभ बढ़ रहा था। वर्ण-भेद का बाजार तो गर्म था ही, लोगों में अहंकार की भावना भी कम नहीं थी। उसी भावना ने जयचन्द को श्रेय प्राप्त कराया शत्रुओं को चढ़ा कर लाने का।

यदि जयचन्द ने ही बुद्धि से काम लिया होता और उसमें देश के प्रति थोड़ी भी निष्ठा रही होती तो वह विधर्मियों को देश में आने के लिये कभी आमन्त्रित नहीं करता। यदि ऐसा न होता तो देश का नक्शा ही शायद कुछ दूसरा होता। अपनी वीरता में प्रसिद्ध भारत के प्रसिद्ध रणबाँकुरे पराजय का मुख देखने को विवश नहीं होते।

हिन्दू एकता की दिशा में अनुकरणीय प्रयत्न

बुद्धि-वैपर्य से हानि—

राष्ट्र के पतन में तो यह बुद्धि-वैपर्य सहायक हुआ ही, बाद में, राष्ट्र के नव निर्माण में भी इसी से बहुत हानि हुई। यद्यपि बाद में अनेक समाज सुधारक हुए, जिनमें महर्षि दयानन्द का नाम भी श्रद्धा पूर्वक लिया जा सकता है। इन्होंने रूढ़िगत गुलामी को दूर करने की दिशा में बहुत कार्य किया। धर्म के स्वरूप पर नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में इन्हें अनेक व्यक्तियों के विरोध का भी सामना करना पड़ा। पौराणिक पण्डितों और हठधर्मी वाले धार्मिकों से शास्त्रार्थ भी किये, किन्तु अपने धर्म में कट्टर तथा विपरीत विचारधारा के लोगों के द्वारा उन्हें भी हलाहल पान करा दिया गया।

धर्म पर एक दयानन्द ही क्या, और भी बहुत-से बलिदान समय-समय पर होते रहे हैं। महात्मा गाँधी का नाम तो भारत के इतिहास में सदा-सदा के लिये अमर हो चुका है। उन्होंने समाज-संगठन की दिशा में बहुत कुछ कार्य किया। हरिजनोद्धार की दिशा में किया गया उनका कार्य सदैव अविस्मरणीय रहेगा। वस्तुतः शूद्रों को 'हरिजन' नाम देने का श्रेय भी उन्हीं को रहा है।

गाँधीजी ने अछूतोद्धार का ही कार्य नहीं किया, वरन् राष्ट्रीय एकता की वृद्धि की दृष्टि से उन्होंने मुसलमानों और ईसाइयों को भी राष्ट्रीय झण्डे के नीचे एकत्र रखने का पर्याप्त प्रयत्न किया। देश का विभाजन होने पर पाकिस्तान में हिन्दुओं पर जो भीषणतम अत्याचार

हुए, उनकी प्रतिक्रिया आंशिक रूप से इस देश में भी हुई। उस समय मार-काट, लूट-पाट, बलात्कार आदि की अप्रत्याशित घटनाओ ने गांधी जी को बेचैन कर दिया। इस कारण उन्होने हिन्दू-मुसलमान दोनो ही वर्गो को समझाया। वे स्वयं नोआखाली की यात्रा पर गये और वहाँ के लोगो को मानवता का पाठ सिखाया। उसके बाद उन्होने पूर्वी पाकिस्तान की भी यात्रा की। वहाँ की सरकार और जनता भी उनसे प्रभावित हुई और हिंसक घटनाओ मे कमी आने लगी।

गांधीजी ने स्वदेश मे भी जन-भावना को बदलने का बहुत कुछ प्रयत्न किया। वे गरीबो, पद दलितो और अल्प सख्यको के मसीहा रूप मे सभी की श्रद्धा और आदर के पात्र रहे। किन्तु उनके द्वारा किये गये वे प्रयत्न कुछ लोगो को अच्छे न लगे, इसी कारण उनकी भी हत्या कर दी गई।

इसका अभिप्राय है कि हिन्दू ही अपने समाज और राष्ट्र के निर्माण मे समय-समय पर बाधा उपस्थित करते रहे। दूसरो को अपने मे समेटने की भावना तो दूर, अपनो को ही अपने साथ न रख सके, यह हमारा दुर्भाग्य ही रहा।

विधर्मियो ने हिन्दुओ पर जो अत्याचार किये, वे भी हमारी फूट और कट्टर भावनाओ के कारण ही। उन्होने हिन्दुओ की लडकियो को सरलता से उडाया। क्योकि उन्हे यह सुविधा थी कि किसी भी हिन्दू की लडकी के प्रति मिथ्या अफवाह भी फैला देते तो हिन्दू उस लड़की का परित्याग कर देते। उसे घर मे घुसना भी असम्भव हो जाता और तब वह विवश होकर या तो उस विधर्मी के पास पहुचती अथवा वेश्यालय मे। इस प्रकार न जानें कितनी सती-साध्वी नारियाँ अपनी इच्छा के विरुद्ध वेश्या बन गई, न जानें कितनी भोली-भाली हिन्दू कन्याएँ विधर्मियो के साथ रहने को विवश हुई। क्या हिन्दू-समाज के लिये यह कुछ कम क्षति की बात थी।

किन्तु हिन्दू अपनी कट्टरतावश न तो अपनी ही भूली-भटकी बहिन-बेटियों को शरण दे सके, न उन्होंने विधर्मियों की कन्याओं को ही स्वीकार किया। इतिहास से भी यह बात प्रतीत होती है कि जो विधर्मी-कन्याएँ स्वयं हिन्दुओं से विवाह के लिये लालायित थीं, उन्हें हिन्दू-समाज ने कभी स्वीकार नहीं किया।

इसका मुख्य कारण था ऊँच-नीच का विचार और मर्यादा का बन्धन। समाज से कोई लड़की चली जाय किसी विधर्मी के चंगुल में तब तो मर्यादा भंग नहीं होती थी, किन्तु कोई विधर्मी-कन्या आना चाहे हिन्दू-समाज में तो वह उसके लिये ग्राह्य नहीं थी।

समग्र दृष्टि से देखें तो यही वे कारण थे, जिनसे सुगठित हिन्दू समाज विघटन की ओर तेजी से अग्रसर हुआ। विधर्मियों ने एक चाल और खेली कि वे जिस कुँवारी लड़की को चाहते उससे बलपूर्वक विवाह करने को स्वतन्त्र थे। उन्हें शायद इस प्रकार कानूनी हक प्राप्त हो चुका था। इस कारण हिन्दुओं की लड़कियाँ घरों से बाहर निकलने में डरती थीं। माता-पिता उन्हें विधर्मियों की दृष्टि से बचाते और सजातीय वर के साथ अल्प वय में ही विवाह कर देते।

तभी से बाल-विवाह की प्रथा आरम्भ हुई और तभी से लड़कियों को शिक्षा से भी वंचित होना पड़ा। बाल-विवाह ने स्त्री और पुरुष दोनों को ही दुर्बल किया। अपरिपक्व रज-वीर्य के संयोग से उत्पन्न सन्तान का रोगी और अल्पायु होना अपेक्षित था।

हुआ भी यही, समाज निस्तेज और निर्वीय होता गया। बाद में ऐसे समाज-सुधारक और राष्ट्र-निर्माता के रूप में कुछ लोग सामने आये, जिन्होंने हिन्दू-समाज में बढ़ते हुए अज्ञान को रोकने का प्रयत्न किया। बाल-विवाह-निषेध, सती-प्रथा-निषेध आदि से सम्बन्धित कानून बनने में उनका बहुत हाथ रहा।

यद्यपि समाज-निर्माण की दिशा मे अब तक बहुत कार्य हुआ है, तो भी हमारे मस्तिष्कों मे भरी हुई गुलामी की गन्ध अभी निकली नही है। हम आये दिन देख रहे हैं कि विधर्मी और विदेशी लोग हिन्दू-समाज को धीरे-धीरे तोड़ते ही जा रहे हैं। अब भी न जानें कितने लोग मुसलमान और ईसाई बने जा रहे हैं, विदेशी धन के बल पर। उन्हें बड़े-बड़े प्रलोभन दिये जाते हैं और उच्च स्थिति का विश्वास दिलाया जाता है। किन्तु क्या वे प्रलोभन और विश्वास टिकाऊ माने जा सकते हैं?

विधर्म स्वीकार करना भी सम्मानजनक नहीं–

यह तथ्य भी सामने आते रहे हैं कि जो लोग प्रलोभनादि से हिन्दू-समाज छोड कर विधर्मी बने, वे वहाँ सम्मान का जीवन नही जी रहे हैं। धर्म-परिवर्तन के बाद उन्हे पूछने वाला भी कोई नहीं होता, वरन् कहीं-कही तो उनके साथ शत्रुओं या गुलामो जैसा ही व्यवहार किया जाता है।

विधर्मी बनने के बाद उनकी स्थिति धोबी के कुत्ते जैसी हो जाती है, जो न घर का रहता है, न घाट का। अपने समाज से जाकर लौटना चाहे तो उसकी नाक नही लौटने देती। क्योंकि नाक तो वह भी ऊँची ही रखना चाहता है।

वस्तुत: नाक का प्रश्न बड़ा दु:खदायी है। फिर भी कुछ साहसी लोग नाक की परवाह न करके पुन: अपने उसी हिन्दू धर्म मे लौट आते हैं। उस स्थिति मे हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उसे खुले दिल से गले लगायें, जिससे कि उसे जो प्रलोभन खीच कर ले गया था, वह उसे आकर्षित न करे। वरन् वह समझ ले कि मेरा अपना स्थान वहाँ नहीं, यही हो सकता है।

हिन्दुओ मे धर्म-भावना की मानसिक दासता के कारण पचाने की शक्ति नही है, वही हमारे लिये पतन का कारण बनी है। हम उसी के

द्वारा क्रमशः कमजोर होते चले गये हैं। यदि हमने बुद्धि से काम लिया होता तो विधर्मियों को अब तक बहुत कुछ अपने में विलीन कर लिया होता। यदि अब भी हम उस धार्मिक अन्ध विश्वास का परित्याग कर सकें तो समाज-वृद्धि का श्रेय ले सकते हैं। क्योंकि मुसलिम, ईसाई आदि अल्प संख्यक जातियाँ सरलता से हिन्दू-समाज में विलीन हो सकती हैं। वे चाहती हैं कि हम हिन्दू बन जाँय। उन्हें हिन्दू धर्म जैसा कोई अन्य धर्म तात्विक ज्ञान-सम्पन्न दिखाई नहीं देता। यही कारण है कि अब भी विदेशियों की पर्याप्त संख्या भारत में दिखाई देती है जो योग, ज्ञान, भक्ति आदि उपायों द्वारा आत्मोन्नति के लिये लालायित हैं। जो कहते हैं कि मानसिक शान्ति मिल सकती है तो हिन्दू-धर्म में ही, जहाँ प्राणिमात्र के कल्याण पर चिन्तन किया जाता है।

और समाज को बचाना है तो यही करना होगा। हमें प्रयत्न करना होगा कि अन्य धर्म के लोग हमारी इच्छाओं के प्रति आकर्षित हों। प्रेम मे बड़ी भारी शक्ति होती है। विश्व में जो कार्य तलवार नहीं कर सकी, वह प्रेम ने किया है। जब हमारे धर्मशास्त्र भी प्रेम में निहित इस महती शक्ति को स्वीकार करते हैं, तब हमें उस शक्ति के सदुपयोग से विमुख ही क्यों रहना चाहिये ?

हमारे नवयुवकों को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। क्योंकि बड़े-बूढ़े लोग तो अभी भी लकीर के फकीर बने हुए हैं, वे किसी भी नवीनता को या धर्म मे सामयिक बदलाव को स्वीकार नहीं करना चाहते। जो चाहते हैं वे भी धर्म-गुरुओं के अथवा परिवार आदि के दबाव से वैसा नहीं कर पाते। तब यह नेतृत्व नवयुवक ही क्यों न सँभाले ? उनमें नया खून, नया जोश, नया उत्साह, नया साहस और नई उमंगें होती हैं। उनका विचार करने का ढंग भी दकियानूसी नहीं होता। इसलिये वह विभिन्न अल्प-संख्यक जातियों को अपने उदार व्यवहार से आकर्षित कर सकता है।

और यदि वह ऐसा करने का निश्चय कर ले तो सफलता भी असभावित नही। उसे केवल एक दृढ सकल्प लेकर खडा होना है कि हमे तो राष्ट्र-निर्माण करना है, वह चाहे कैसे भी हो ? कितना भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े हमे उसके लिये।

मत समझना कि इसमे किसी प्रकार के किंचित् भी बल-प्रयोग की अपेक्षा होगी। बल-प्रयोग तो बर्बर और क्रूर मनुष्य करते है। हमारा तो सत्य और अहिसा मे विश्वास रहा है और सदैव रहेगा। इसी के बल पर हम गांधीजी के नेतृत्व मे आगे बढे और स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके।

स्वतन्त्रता की रक्षा भी आवश्यक–

स्वतंत्रता प्राप्त करना एक बात हुई और स्वतत्रता की रक्षा करना दूसरी बात है। वह होगी सगठन से, एकता से, पारस्परिक प्रेम से। ऐसा मानना होगा कि भारतवर्ष मे रहने वाला प्रत्येक मनुष्य हमारा भाई है, हमारे शरीर का अभिन्न अङ्ग है। मुसलमान-मुसलमान नही है, ईसाई भी ईसाई नही है, सभी भारतीय हैं, सभी हिन्दू हैं।

और यह कोई कोरी कल्पना ही नही है। क्रियात्मक रूप से करके देख सकते है। हमने कहा कि प्रेम मे बड़ी शक्ति होती है। उसमे जो आकर्षण है, वह दूसरो को अपनी ओर खीचे बिना नहीं रह सकता।

यदि हम इस ओर से उदासीन रहेगे तो धीरे-धीरे और भी दुर्बल होते जायेगे। हमारे मे से अनेक कलाविद, अनेक इञ्जिनियर, अनेक डॉक्टर आदि विदेशो मे चले गये और वही के होकर रह गये। क्योंकि उन्हें वहाँ अधिक लाभ, अधिक भौतिक सुख और अधिक वैभव दिखाई देता है। वे समझते हैं कि वहाँ जैसा सुख भारतवर्ष मे नही मिल सकता।

किन्तु, क्या उनकी धारणा ठीक है ? क्या उनके विदेशो मे बसने से देश और समाज की कुछ हानि नही है ? प्रश्न विचारणीय होता हुआ

भी ऐसा नहीं कि जिसका उत्तर न हो। जो लोग विदेश में जा बसे, उनकी इज्जत उतनी नहीं, जितनी वहाँ के लोगों की है। क्योंकि वे भारतीयों को विदेशी और अपने टुकड़ों पर पालने वाला मानते हैं। इसके साथ ही विदेशों में कहीं-कहीं तो उन्हें निकाल देने के लिये आन्दोलन तक चल पड़े हैं।

दूसरा पक्ष है समाज की हानि का। जो भारतीय विदेश में जा बसा है, उसकी सेवाओं से देश और समाज वंचित रह जाता है। शिक्षा आदि के रूप में उस पर हुआ व्यय भी अपने देश के काम में नहीं आता। इससे जो हानि होती है, उसका अनुमान लगा सकना कठिन ही है। यदि ऐसे लोगों को भी उनके कर्त्तव्य का स्मरण कराया जाता रहे तो हो सकता है कि वे लोग देश-हित के लिये आकर्षित हों और विदेशी तकनीकों को जान कर देश को उससे लाभान्वित करें।

क्या हमें इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार नहीं करना चाहिये ? हमारा कर्त्तव्य होना चाहिये कि जिस ओर हमारा हित-साधन प्रतीत हो, उसी ओर उन्मुख रहें, किसी भी पक्ष को दुर्बल न होने दें। इन तथ्यों में बहुत-से तो ऐसे हैं, जिनमें हमें न वर्ण-व्यवस्था का विरोध लेना होता है, न वर्ग-भेद का। उदार दृष्टिकोण से सभी कार्य सम्पन्न हो सकते हैं।

ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि जब वर्ण-व्यवस्था का उद्भव हुआ, तब केवल चार ही वर्ण माने जाते थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। किन्तु बाद में तो वर्णों के भी अनेक वर्ण होते चले गये। जातियों से शाखायें फूटती रहीं और उपजातियाँ बनती रहीं। बिखराव की दिशा में यह उपजातियाँ और भी सुदृढ़ कारण बनीं।

इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि अब तक मानव समाज का जो विकेन्द्रीकरण होता रहा, उसे रोकने के लिये केन्द्रीकरण की

दिशा में क्यो न प्रयत्न किये जांय ? वह प्रयत्न लोगों को जाति-रीति विषयक कट्टरता से हो रही हानि की ओर ध्यान आकर्षित करने से हो सकती है। पहिले उन लोगों को इसके लिए तैयार किया जाय, जो सुलझे हुए विचार के हो। यदि ऐसे लोग आगे बढते हैं, तो एक दिन वह भी आ सकता है जब समूचा समाज उनके निर्देशन को स्वीकार करने मे न हिचके।

स्मरणीय है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—तीनो को प्राचीन शास्त्र-कारो ने ही 'द्विज' कहा है। बहुत बार 'द्विज, का तात्पर्यार्थ ब्राह्मण से ही लगाया जाता है, जिसमे यह बात स्पष्ट होता है कि क्षत्रिय और वैश्य का सम्मान भी ब्राह्मण से कम नही था। क्योकि वे भी 'द्विज' कहलाते रहे हैं। द्विज से भिन्न अर्थात् द्विजेतर जातियो मे समस्त शूद्र जातियाँ सम्मिलित होती हैं, जिन्हें वेदादि के अधिकार से वचित रखा गया था। किन्तु इस पर किसी ने भी ध्यान नही दिया कि उन शूद्रो मे न जानें कितने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य होगे जो जन्म से ब्राह्मणादि होते हुए भी शूद्र बन बैठे, चाहे वे कर्म से बने हो, अथवा समाज के तिरस्कार से। क्योकि पहिले यह प्रथा थी कि जो व्यक्ति जाति से च्युत कर दिया जाता था समाज के द्वारा, वह शूद्र के समान ही समझा जाता था।

इस विषय मे महाभारत का एक उदाहरण भी दिया जा सकता है कर्ण सम्बन्धी वृत्तान्त के रूप मे। कर्ण कुन्ती का पुत्र था, यह निर्विवाद सिद्ध है। अन्य पाण्डवो के समान ही उसकी भी उत्पत्ति हुई थी, किन्तु कुन्ती की अविवाहितावस्था मे ही। उसे बहा दिया गया नदी म और राजा के एक रथ-चालक सूत ने पकड लिया उसे। उसके कोई सन्तान नही थी, इसलिये सूत की पत्नी ने बडे लाड़-चाव से पाला उसे। इसी कारण कर्ण को सूत-पुत्र कहा जाता रहा है। दुर्योधन से मित्रता होने के कारण कौरवो मे सम्मान तो था उसका, किन्तु जाति के रूप मे सूत-पुत्र अधिक नहीं। यह देख कर दुर्योधन ने उसे एक भूभाग का अधिकार

देकर राजा बनाया, तब भी राजाओं और विज्ञों की दृष्टि में वह क्षत्रिय नहीं हो सका।

एक बार जब भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे पाण्डवों के साथ होने को समझा कर कहा कि 'तुम तो युधिष्ठिर से भी बड़े पुत्र हो कुन्ती के, इसलिये पाण्डवों को अपना छोटा भाई मान कर. उनका पक्ष लेना तुम्हारा कर्त्तव्य है।" कर्ण ने इसके उत्तर में सामाजिक व्यवहार और लोकाचार की बात कही कि "मैं इन सब बातों को जानता हूँ। माता कुन्ती ने मुझे यह सब बता दिया है। किन्तु अब मेरा पाण्डवों में मिलना सम्भव नहीं। क्योंकि अब मैं क्षत्रिय नहीं, सूत माना जाता हूँ। मेरे और मेरी सन्तानों के विवाह-सम्बन्ध भी सूत-जाति में ही हुए हैं, तब मेरा क्षत्रिय होना भी कैसे सम्भव होगा। इससे परिवार टूटेगा, नातेदारियाँ टूटेंगी और मित्र के साथ विश्वासघात का भी दोष-भागी होना पड़ेगा।"

यह वृत्तान्त बताता है कि कर्ण सूत-पुत्र न होकर भी सूत पुत्र बनने को विवश हुआ। ऐसे न जानें कितने व्यक्ति होंगे जो अपनी जन्म जाति से अनभिज्ञ रहने के कारण अन्य जाति में मिल गये होगे। इसका तात्पर्य यह भी है कि नहीं कहा जा सकता कि कौन किस वर्ण का है? अनेक परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं, जिनके कारण उन्हें अन्य जातियों में मिलना पड़ा हो।

प्राचीन और अर्वाचीन वर्ण-व्यवस्था में अन्तर–

वर्तमान कालीन वर्ण-व्यवस्था में और प्राचीन कालीन वर्ण-व्यवस्था में बहुत अन्तर होने का कारण भी यही है कि लोगों को अपने विषय में अधिक ज्ञान नहीं होता, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति अपने को उच्च जाति का सिद्ध करने का उपक्रम करता है। यद्यपि ऐसा होना वर्ण-व्यवस्था के क्रम को गड़बड़ाने वाला ही है, तो भी इससे किसी वर्ण का कोई

अधिक लाभ नही हो सकता । जैसे कि वर्तमान समय मे कुछ हरिजन अपने नाम के आगे भारद्वाज, वसिष्ठ, पाराशर आदि जाति वाचक उपाधि लिखते हैं, किन्तु इस प्रकार लिखने मात्र से ही वे ब्राह्मण नही बन पाते ।

हम कह सकते है कि इस प्रकार खींच-तान की कोई आवश्यकता नहीं है । जाति-पाँति का यह बिखराव इस प्रकार दूर नही हो सकता । उसके लिये तो कुछ क्रियात्मक कदम उठाने की आवश्यकता होगी । यदि ऐसा हो तभी यह महारोग दूर हो सकता है ।

पौराणिक गाथानो से यह बात स्पष्ट होती है कि शास्त्रकारो ने समाज के लिये जो वर्ण-व्यवस्था का विधान किया था, उसमे ब्राह्मण को जो विशेष अधिकार प्राप्त थे, वे क्षत्रिय को नही थे । फिर भी ब्राह्मणो और क्षत्रियो मे परस्पर विवाह-सम्बन्ध तक होते थे । उनकी शिक्षा भी एक साथ होती थी और धार्मिक शिक्षा तो सभी के लिये एक ही थी । ऐसा नही था कि काई भी वर्ण उस धर्म-शिक्षा से वचित रखा जाता । किन्तु इस सबमे बाद मे ही व्यवधान पडा । बाद मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि सभी वर्ण अपने-अपने निश्चित धर्माचरण से हट गये । बहुत से ब्राह्मण सात्विक आहार को भूल गये, उन्हे राजसिक और तामसिक आहार प्रिय लगने लगा । क्षत्रिय के लिये तो आमिष भोजन का निषेध ही नही हुआ । किन्तु आधुनिक समय मे तो सभी के अपने-अपने स्वभाव मे परिवर्तन आया, किन्तु निषेधात्मक कार्य छिपकर किये जाने लगे । दिखावटी तौर पर धर्म-व्यवस्था यथावत् बनी रही ।

ऐसी अनेक घटनाएं सुनने मे आती हैं कि लोग जिन स्त्रियो से विवाह नही कर सकते नीच वर्ण के कारण, उनके साथ अवैध सम्बन्ध रखने मे जरा भी नही हिचकते । इसी प्रकार उच्च वर्ण की स्त्री किसी नीचे वर्ण के पुरुष से विवाह नही कर सकती, किन्तु उनके भी व्यभिचार कर्म की घटनाएं प्रकाश मे आती रही है ।

अब सोचिये कि यह कैसी विसंगति उपस्थित है, जो पर्दे में पनपती है। दिखावटी रूप में सभी धर्म धुरीण बने रहते हैं। और जब ऐसा होता ही है तब उस पर पर्दा डालने से ही क्या लाभ ? बहुत बार तो इस प्रकार के अनैतिक कर्म शत्रुता उत्पन्न कर देते हैं, जिससे हिंसा की भी नौबत आ जाती है। अभी हाल में हुए बहमई, देहुली आदि की जघन्य हत्याओं में भी कुछ अनैतिक कारण भी रहे हैं। यद्यपि यह दस्यु-समस्या है, तो भी वर्ण-भेद या जाति-भेद भी इन हिंसक घटनाओं में बहुत बड़ा कारण रहा है।

इस कारण वर्ण भेद का यह घातक कदम तभी पीछे हट सकेगा, जब देश से यह व्यवस्था चली जायगी। बड़े-बड़े विचारकों का मत है कि कम से कम समय की आवश्यकता को देखते हुए इसे पूर्ण रूप से समाप्त कर देना चाहिये। किन्तु यह होगा तभी जब मनुष्य मनुष्य के प्रति घृणा करना छोड़ दे।

गाँधीजी के प्रयत्न—

गाँधीजी ने एक बार इस वर्ण-व्यवस्था के विरोध में आमरण उपवास की घोषणा की, जिससे लोगों का ध्यान इस समस्या की ओर गया। लोगों ने आश्वासन दिया कि उनकी बात अवश्य मानी जायगी। एक बार उपवास स्थगित कर दिया, किन्तु पुनः उन्हें उसकी आवश्कता का अनुभव हुआ। इस बार इक्कीस दिन का उपवास किया गया, जिससे समाज में तहलका मच गया और वर्ण-भेद को बनाये रखने में दिलचस्पी रखने वाले लोगों के कान खड़े हो गये। उन्होंने विरोध प्रकट करने की भी चेष्टा की।

किन्तु गाँधीजी के उद्देश्य में समाज-निर्माण की जो सुदृढ़ भावना थी, उससे लोगों को अधिक प्रेरणा मिली और वे अस्पृश्यता-निवारण के कार्य में उनका अधिक से अधिक सहयोग करने लगे। स्वतन्त्रता-

प्राप्ति के पश्चात तो विचार-क्रान्ति का एक ऐसा दौर भी आरम्भ हो गया, जिससे सरकारी तौर पर भी अछूता द्धार से सम्बन्धित कानून बनाये गये वे कानून अस्पृश्यता के विरोध मे प्रभावी हैं।

सार्वजनिक मन्दिरो के जो द्वार हरिजनो के लिये बन्द थे, वे खोल दिये गये। अब कोई भी हरिजन-प्रवेश का अधिकारी है। दक्षिण मे तो कही-कही हरिजन पुजारी भी बनाये गये हैं और उन्हे दान-दक्षिणा लेने तथा ठाकुरजी के भोग-वितरण का अधिकार भी प्राप्त हो गया है।

अब तो हिन्दू-सभा आदि अनेक सगठन भी हरिजन-उद्धार की बात करते हैं। किन्तु करने मात्र से तो हरिजन-उद्धार होने वाला नही है। सरकारी कानून भी उतने अधिक सहायक सिद्ध नही होते। क्योकि कानून बन तो जाते हैं, किन्तु उनका पालन ठीक से नही हो पाता। इसलिये आवश्यकता है मनुष्यो की मनोवृत्ति बदलने की। यदि मनोवृत्ति नही बदलती तो क्या करेगा कानून ? इन तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए हमे अपने दृष्टिकोण मे उदारता पूर्वक परिवर्तन लाना चाहिये।

पुराने दृष्टिकोण को बदलने से ही एकता सम्भव है

हरिजनों को सही मार्ग दिखाओ–

यद्यपि अछूतोद्धार की दिशा मे मन्दिर प्रवेश, शिक्षा-प्राप्ति आदि जैसे कुछ कार्य हुए हैं। कानून मे उनके नौकरी आदि के मिलने में अनुपात की सुरक्षा, सासदो और विधायकों के निर्वाचनो मे सुरक्षा, वजीफे

एवं कम अंक और अधिक आयु की नौकरियों में छूट से बहुत-से हरिजनों को लाभ भी हुआ है। किन्तु वह लाभ कुछ थोड़े लोग ही उठा सके हैं। अधिक लोग तो अभी उसी दिशा में पड़े हुए तुच्छ जीवन जीने के लिये विवश है।

और जो लोग सुविधा होते हुए भी शिक्षा आदि के प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं, वे ही उन सुविधाओं से वंचित है। इनमें कुछ तो ऐसे भी हैं, जो परम्परागत धन्धे को छोड़ने की बात भी कभी नहीं सोचते। इसलिये इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि हरिजनों में अभी जागृति में उच्च वर्ण के प्रबुद्ध वर्ग का सहयोग मिले तो भी इस कार्य में अभी पर्याप्त लम्बा समय लगेगा।

किन्तु समय की चिन्ता किये बिना हमें अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये। कोई नीचे से ऊपर चढ़े तो धीरे-धीरे चढ़ पायेगा। उतरने में जितना समय लगता है उससे अधिक लगता है चढ़ने में इसे इस दृष्टि से देखना चाहिये कि हम आज वृक्षारोपण कर रहे हैं, पर फल तो वर्षों बाद खाने को मिलेंगे।

आवश्यकता इस बात की है कि हरिजनों को अछूत मत मानो, उन्हें सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा दो और मन से घृणा का भाव निकाल दो। यदि ऐसा करें तो भी हम उनका बहुत कुछ कल्याण-साधन कर सकते हैं।

जो लोग वर्ण-व्यवस्था के कट्टर समर्थक हैं, यदि वे अपने विचार बदलने को तैयार न भी हों तो कम से कम अपने दृष्टिकोण को तो उनके प्रति उदार बनावें। शायद आपको पता हो कि हमारे देश के ही दक्षिण भाग में ब्राह्मण-मात्र का बोल-बाला है। दक्षिणी ब्राह्मण अपने से भिन्न सभी को शूद्र समझते हैं। उनकी दृष्टि में उत्तर भारत का कोई भी व्यक्ति, चाहे वह किसी भी वर्ण का हो, चाहे ब्राह्मण ही क्यों न हो

अस्पृश्य के समान है। कहते है कि कभी दक्षिण मे ब्राह्मणो का ऐसा साम्राज्य रहा था कि उनके चलने के मार्ग पर मुसलमान या ईसाई तो चल सकते थे, किन्तु अछूतो को नही चलने दिया जाता था।

चार वर्ण, चार स्तम्भ हैं—

हम इस दृष्टि से क्यो न विचार करें कि अछूत हमारी हिन्दू जाति के ही अ ग हैं। चार वर्ण समाज को टिकाने वाले चार स्तम्भ हैं और यदि उनमे से कोई भी स्तम्भ टूट कर गिर जाता है तो उस ओर से समाज भी लडखडा जायगा। इसलिये इस जर्जर होते हुए स्तम्भ को हमे इस प्रकार बनाये रखना है, जिससे समाज को कही झुकना न पडे और वह सदा समान रूप से उन्नत खडा रहे।

स्मरण रहे नीति शास्त्र का 'सघे शक्ति: कलौयुगे' वाक्य, जो स्पष्ट घोषणा करता है इस बात की कि, चाहे किन्ही अन्य युगो मे अन्य शक्तियों के द्वारा कार्य चला होगा, किन्तु इस कलियुग मे बिना संगठन के वह सम्भव नहीं। यद्यपि अन्य युगो मे भी ऐसा ही रहा होगा, किन्तु उक्त वाक्य इस युग के लिये विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है।

हम अपने शरीर को ही लें, जिसमे विभिन्न अ ग-अवयव हैं, पांव चलने के लिये और हाथ कार्य करने के लिये हैं। इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों के अपने-अपने कार्य हैं। यदि उनमे से कोई भी इन्द्रिय निष्क्रिय हो जाय तो उसके द्वारा होने वाला कार्य अवश्य ही रुक जायगा। इसलिये आवश्यक है कि सभी इन्द्रियाँ ठीक प्रकार से कार्य करती रहे। अन्यथा सुख मे भी व्यवधान उपस्थित होगा।

परन्तु इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो का उपभोग करती है, तब उनके कारण राग भी उत्पन्न हो सकता है, द्वेष भी। क्योकि जिस इन्द्रिय के सुख मे राग रहेगा, इसमे विघ्न होने पर द्वेष भी उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसलिये आवश्यकता होती है उनमे समन्वय बनाने की।

अन्यथा शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का स्वास्थ्य आक्रान्त हो सकता है।

आपने पुराणों में समुद्र मन्थन का वृत्तान्त पढ़ा-सुना होगा। भगवान् श्रीनाराण ने आदेश दिया देवताओं को कि समुद्र को मथो जिससे रत्न और अमृत आदि की प्राप्ति होगी। किन्तु किस प्रकार मथा जाय समुद्र? भगवान् ने सुझाव दिया कि जिन्हें तुम शत्रु मानते हो, घृणास्पद समझते हो, उन दैत्यों को साथ लो और मिल कर मन्थन के कार्य में जुट जाओ। तब यही किया देवताओं ने—दैत्यों से मेल करके उस कार्य को सम्पन्न किया।

इस वृत्तान्त को रूपक भी मान सकते हैं। समुद्र आकाश को भी कहते है। आकाश में देवता और दैत्य रूपी दो प्रकार की विरुद्ध शक्तियाँ सदैव कार्यरत रहती हैं। संसार की समस्त प्राकृतिक क्रियाएँ इनसे प्रभावित रहती हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इन दोनों प्रकार की शक्तियों में पारस्परिक समन्वय न रहता हो।

देवी भागवत में मधु-कैटभ का वृत्तान्त मिलता है, जिनकी उत्पत्ति विष्णु के कान के मैल से हुई थी। वे ब्रह्माजी को खाने के लिये दौड़े। इस रूपक में एक यह तथ्य भी निहित है, कि ब्रह्मावेदमय हैं, उन्हें अहंकार का सात्विक अंश अथवा बुद्धि तत्त्व भी कह सकते है और विष्णु हैं व्यापक महत्तत्व, उनके कान के मैल में जो राजस-तामस दूषित तत्त्व हो गया, वह बाहर निकल कर काम-क्रोध के रूप में प्रकट हुआ। 'मधुस्तु कामः सम्प्रोक्तः कैटभः क्रोध उच्यते' अर्थात् उनमें मधु को काम और कैटभ को क्रोध कहते हैं।

उसका तात्पर्य हुआ कि ब्रह्मा पर आक्रमण की बात कह कर ग्रन्थकार ने वेदों पर आक्रमण की बात कही है। क्योंकि ब्रह्मा वेद स्वरूप हैं, उनमें काम-क्रोध का अभाव है। वेद भी काम-क्रोध से रहित हैं,

इसलिये दैत्य-शक्तियों के रूप में उत्पन्न काम-क्रोध वेदों को नष्ट करना चाहते थे। इसलिये आवश्यकता हुई उनका दमन करने की। उन्होंने कहा हमें मारो तो ऐसे स्थान पर मारना जहाँ न पृथिवी हो, न जल ही हो। इसका अभिप्राय भी स्पष्ट है कि क्रोध अग्नि का और काम जल का रूप है। पृथिवी में जो उष्णता है वह अग्नि तत्व की है, और शुक्र में शीतलता जल तत्व की है। महाभारत में कहा है 'यथा शीतोष्णयोर्मध्ये नैव उष्ण न च शीतता' अर्थात् 'शीत और उष्ण के मध्य वाली अवस्था न ठण्डी होती है, न गर्म होती है।' जब ऐसी अवस्था होती है, तब न पुण्य रहता है, न पाप, दु:ख-सुख का भी अनुभव नहीं होता।

वस्तुतः यह स्थिति आपात्-कालीन है। जब सिर पर विपत्ति आती है, तब मनुष्य दुःख का वरण भी सुख के समान ही करता है। उस समय वह पुण्य-पाप को ही नहीं भूलता, आग्रह-दुराग्रह को भी भूल जाता है। यदि हम विचारों में अधिक कट्टर हों तो भी टूटते हुए समाज को जुड़ा रखने के उद्देश्य से ही शास्त्रों के उक्त वचनों को प्रमाण मान कर हठधर्मी का त्याग करना ही श्रेयस्कर हो सकता है। आज की आवश्यकता है कि समाज सुसंगठित हो और किसी प्रकार भी हम टूटने से बचे रहें, इसके लिये तन, मन, धन से जुट जाना समाज-हित में अपेक्षित ही है।

आत्मज्ञान से मानसिक भेद मिटते हैं—

आज का समाज आत्मज्ञान से दूर है, इसीलिये वर्ण-भेद और वर्ग-भेद को अधिक प्रोत्साहन दे रहा है। किन्तु आत्मज्ञान होने पर सभी प्रकार के मानसिक भेद मिट जाते हैं। इसलिये आत्मज्ञान की आवश्यकता पर उपनिषद् भी बल देते रहे हैं। मनु का भी इस विषय में कथन है—

सर्वेषां अपि च एतेषां आत्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद् हि अग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते हि अमृतं ततः॥

"समस्त ज्ञानों में आत्मज्ञान ही सर्वाधिक श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि अमृतत्व की प्राप्ति उसी से सम्भव है।"

शरीर में बहुत-से अवयव हैं, वे तभी तक क्रियाशील रहते हैं जब तक शरीर में आत्मा का निवास रहता है। जब मनुष्य की मृत्यु होती है तब वे सब सड़-गल कर छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। आप देखते हैं किसी माला को, उसके सभी दाने साथ-साथ मिलकर रहते हैं एक सूत्र में पिरोये हुए तभी वे शोभा देते हैं। यदि उनमें से कोई दाना टूट कर गिर जाय तो माला अधूरी प्रतीत होती है, वह न कण्ठ में अच्छी लगती है, न अनुष्ठान-कार्य में ही प्रयुक्त की जा सकती है। उसके सभी दाने समान हों, तभी गले में शोभा भी देती है। बिखरी हुई माला, जब तक पुनः न पिरोई जाय, तब तक किसी काम की नहीं होती।

और अब, जबकि समाजरूपी माला के दानों में बिखराव हो गया है अथवा उसके दाने टूट-टूट कर गिरते जा रहे हैं, तब हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि उन दानों को समेट-समेट कर पुनः एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करें। फिर कोई कारण नहीं कि किये जाने वाले प्रयत्न में असफलता मिले।

हम वर्ण-व्यवस्था वाले धर्म को कहते हैं सनातन धर्म। किन्तु सनातन धर्म को मानने वाले हम लोगों में बहुत-सी जातियाँ, बहुत-से भेद और आचार-विचारों में भी पर्याप्त अन्तर है। अनेक सम्प्रदाय बने हुए हैं, जिनकी मान्यताएँ भी परस्पर विरोधी हैं। इस कारण उनमें मत-मतान्तर रूप संघर्ष भी चलते रहते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय का प्रवर्तक संचालक या धर्म गुरु अपने विचारों को सही और दूसरों के विचारों को गलत मानता रहा है। उसके मत में धर्म का जो स्वरूप रहा, दूसरे

उसे नही मानते । वे कहते हैं कि मान्यताएँ हमारी ही ठीक हैं । इस प्रकार कोई भी अपनी बात को कटने नही देना चाहता ।

सभी को ब्राह्मण कहा जाय—

इस प्रकार विभिन्न भेदो से भरा हुआ यह सनातन धर्म वर्तमान समय मे अधिक विवादास्पद होता जा रहा है । इसलिये समाज मे वर्णोत्कर्ष की बात भी चल पडी है । जिसका तात्पर्य है वर्ण का नीचे से ऊपर की ओर उठने का प्रयत्न । जिन जातियो को समाज मे अधिक नीची समझा जाता है, वे जातियाँ आज सीधी बढना चाहती हैं ब्राह्मणत्व की ओर, और उन्होने अपने नामो के आगे ब्राह्मणो के गोत्रो का लगाना भी आरम्भ कर दिया है ।

किन्तु, क्या ऐसा करने से वर्णोत्कर्ष सम्भव है ? उसके लिये आवश्यकता है वैसे ही गुण-कर्मों की । गुण-कर्मों के नीचे रहते हुए भी कोई ऊँचा बनने की घोषणा करे तो उससे क्या लाभ हो सकता है ?

ऐसा समझते हुए जिन लोगो ने अपने गुण कर्मों को बदल लिया, वे उस वर्ण का अधिकार पाने की माँग करें तो इसे अनुचित नही कहा जायगा । वस्तुत: सृष्टि के आदि मे केवल एक ही वर्ण था, बाद में कर्मानुसार उनमे परिवर्तन हुआ । वर्ण-भेद का इतिहास उसी परिवर्तन से आरम्भ होता है । और यह उस समय लाभदायक इसलिये भी था कि उससे मनुष्य के गुण-कर्म की पहिचान हो जाती थी । कोई अपने को ब्राह्मण कहता तो समझा जाता था कि वह विद्वान है, धर्मज्ञ और वेदज्ञ है, उससे कभी कोई अनुचित कार्य हो ही नही सकता । ऐसी मान्यता ही ब्राह्मण मात्र को श्रद्धास्पद बनाये हुए थी ।

इसी प्रकार जब कोई कहता कि 'मैं क्षत्रिय हूँ' तो उससे यह समझना सरल था कि वह प्रजा की रक्षा में सदैव तत्पर रहने वाला और युद्ध की स्थिति में शत्रु से टक्कर लेने वाला है। इस प्रकार की धारणा के कारण लोग उसे अपना रक्षक मानते हुए अत्यन्त सम्मान का पात्र समझते थे।

वैश्य का कार्य कृषि-कर्म और वाणिज्य निश्चित किया गया था। जो कोई कहता कि 'मैं वैश्य हूँ' तो इसका अर्थ है कि सभी के अन्न-पानी की व्यवस्था इसके हाथ में है। यह खेती द्वारा अन्न उत्पन्न करता, कपास से रुई और रुई से वस्त्र बुनवाता और उचित लाभ पर सब वस्तुओं का क्रय-विक्रय करता है। इसलिये समाज का वह भी एक अत्यावश्यक अंग एवं आदर का पात्र समझा जाता था।

शूद्र को सेवा का कार्य निश्चित था। वह सभी वर्णों की सेवा करने वाला होने के कारण समाज का प्रमुख अंग है। इस प्रकार से वर्ण-व्यवस्था का रूप बन गया था। इसे हम इस उदाहरण से ठीक प्रकार से समझ सकते है कि जैसे कोई सोने-चाँदी का आभूषण बनाये वह स्वर्णकार या सुनार, कोई धुलाई का कार्य करे वह धोबी, कपड़े बेचने का कार्य करे वह बजाज। इसी प्रकार व्यवसाय के अनुसार वर्ण भेद न भी हो, तो भी वर्ग-भेद तो हुआ ही।

यदि वर्ण-व्यवस्था को दूर करने में वर्णोत्कर्ष को बढ़ावा देना अभीष्ट हो तो क्यों न सभी को 'ब्राह्मण' कहा जाय। ऐसा कहने से 'ब्राह्मण' शब्द का अर्थ 'मनुष्य' समझा जायगा। अब उनकी पहिचान आवश्यक हो तो उनके साथ गुण-कर्म वाचक शब्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है। जैसे कोई मिट्टी के बर्तन बनाता है तो वह अपने को कुम्भकार-ब्राह्मण कहने लगे। कोई बाल काटने का कार्य करता है तो वह नापित-

ब्राह्मण, कोई माली का कार्य करता है तो वह माली ब्राह्मण । इसी प्रकार और भी बहुत-से भेद हो सकते हैं ब्राह्मण वाची शब्द के वर्ण भेद की दृष्टि से क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य ब्राह्मण, माथुर, श्रीवास्तव, शीशोदिया ब्राह्मण आदि भी कहे जा सकते हैं।

प्रान्त-भेद से तो पहिले से ही ब्राह्मण-वर्ण बँटा हुआ है अनेक नामो मे। जैसे दक्षिणी ब्राह्मण, गुजराती ब्राह्मण, पहाड़ी ब्राह्मण, कश्मीरी ब्राह्मण, महाराष्ट्री ब्राह्मण, पजाबी ब्राह्मण, कनवजिया ब्राह्मण आदि। उत्तर भारत और मध्य भारत मे और भी अनेक प्रकार के भेद मिलते हैं, जैसे गौड़, सनाढ्य, गौतम, सारस्वत, पालीवाल आदि। सभी जानते हैं यह सब अपनी-अपनी खिचडी पृथक् पकाते हैं और अपनी-अपनी ढपली पर पृथक् राग गाते हैं।

इससे लगता है कि सभी वर्ण अपने लिये ब्राह्मण मान कर चलें भी तो भी वर्ण भेद पर क्या, वर्ग-भेद पर भी काबू नही पाया जा सकेगा। क्योंकि इनमें भी अपने को सर्वोच्च मानने का हठ निरन्तर बना ही रहेगा, जिसके कारण राग, द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा आदि मे कोई कमी नही आ सकती। क्योंकि इतना होने पर भी वर्ग-विभाग के आवश्यक अ ग कर्म-विभाग और वृत्ति-विभाग मे एकरूपता नही लाई जा सकती। कोई एक ब्राह्मण कुछ कहता है, तो दूसरा उससे भिन्न बात और सघर्ष का मूल यही है।

हिन्दू धर्म के सामान्य नियम

एकता के लिए सामान्य नियम—

हिन्दू-समाज में एकता या संगठन की बहुत आवश्यकता है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। किन्तु एकता के लिये भी कुछ सर्वमान्य नियम भी होने ही चाहिये। यदि नियम न हों तो उच्छृंखलता ही बढ़ेगी।

उपनिषदों ने इसी दृष्टि से धर्माचरण का निर्देश देते हुए कुछ ऐसी बातें कहीं हैं जो सभी के लिये हितावह सिद्ध होती हैं। तैत्तिरीय-उपनिषद् में कहा है—'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायात् मा प्रमदः' अर्थात् 'सत्य बोल, धर्म का आचरण कर और स्वाध्याय में प्रमाद न कर' किन्तु ऐसे कितने हैं जो इन नियमों का पालन करते हों?

इसी उपनिषद् का आदेश है 'भूत्यै न प्रमदितव्यम्, स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्, देव-पितृ कार्याभ्यां न प्रमदितव्यं, मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव।' इसका तात्पर्य है कि धनोपार्जन में भी आलस्य न करो। देवताओं और पितरों के कार्य में भी प्रमाद न करो, क्योंकि माता देवता के समान पूजनीय है, पिता और आचार्य भी देवता के समान पूजनीय हैं।

यह सामान्य उपदेश है, किसी वर्ण विशेष के लिये नहीं। किन्तु इस भौतिकवादी युग में जहां ब्राह्मण बनने की प्रतिस्पर्धा लगी है, कोई भी उक्त उपनिषद् वाक्यों की चिन्ता नहीं करता। क्योंकि आज की शिक्षा जोड़ने की नहीं, तोड़ने की है। प्राचीन काल में प्रायः गुरुकुलों में—गुरुओं के आश्रमों में शिक्षा दी जाती थी। उनमें बताये जाते थे

चारो आश्रमो के धर्म। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मचारी रहते हुए विद्याध्ययन करो। क्योंकि विद्या ही लौकिक और पारलौकिक दोनो प्रकार की उन्नति मे सहायक सिद्ध हो सकती है।

विद्या से सब प्रकार का ज्ञान मिलता है। किसी भी क्षेत्र मे बढने के लिये आवश्यक है विद्या। धनोपार्जन, खेती, व्यवसाय, पांडित्य आदि सभी मे तो विद्या चाहिये। दूसरा जो गृहस्थाश्रम है, उसमे धनोपार्जन के बिना काम नहीं चल सकता। उसके लिये तकनीकी ज्ञान-विज्ञान अपेक्षित है। दाम्पत्य जीवन का भी अपना एक विशिष्ट विज्ञान है। सुशिक्षितो के लिये यह सब सहज है, किन्तु अशिक्षित लोग उसका उपयोग भी उचित रूप से नही कर सकते।

तीसरा आश्रम वानप्रस्थ और चौथा संन्यास। वानप्रस्थ मे मनुष्य अपने को सासारिक विषयो से खीचने का प्रयत्न करता है और सन्यासाश्रम मे पूर्ण रूप से विरक्त हो जाता है।

किन्तु चारो आश्रमो का जनक तो एक मात्र गृहस्थाश्रम ही है। सभी आश्रमो का कार्य भी इस एक आश्रम से चलता है। इसी से सब अन्न प्राप्त करते हैं और इसी से ज्ञान प्राप्त करते हैं। क्योंकि ज्ञान तभी होता है जब अज्ञान का अनुभव हो जाय।

अज्ञान का अभिप्राय है सासारिक विषय भोगो से सम्बंधित ज्ञान, जिसके बिना मनुष्य दाम्पत्य जीवन के यथार्थ को नही पहिचान पाता। वासना का ज्वार-भाटा चढा होता है, तब मनुष्य अन्धा हो जाता है, किन्तु उसके उतरने पर मनुष्य को लगता है कि उसकी अब आवश्यकता नहीं। भोगो से तृप्ति होने पर ही उनके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो सकता है। इसलिये भी गृहस्थाश्रम बहुत आवश्यक है। यही कारण है श्रुतियों ने इसी आश्रम को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहा है।

ज्ञान का तात्पर्य उस ज्ञान से है जो भौतिकता से भिन्न हो। ज्ञान प्राप्त होने पर ही मनुष्य समझ पाता है कि शरीर और आत्मा में नितान्त विपरीतता है। शरीर मरणधर्मा है, उसका महत्व तो तभी तक है, जब तक कि शरीर में आत्मा विद्यमान है। आत्मा के निकलते ही वह गलने-सड़ने लगता है।

किन्तु देहाभिमानी मनुष्य शरीर को ही आत्मा मानता है। वह सोचता है कि सुख है तो शरीर के साथ ही है। शरीर दुःखी तो मन, प्राण, आत्मा सभी कुछ दुःखी। और ऐसा मानने के साथ ही उसे अनुभव होता है कि काँटा चुभा तो उससे दुःख मुझे ही हुआ। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। काँटा शरीर को ही चुभेगा, चोट लगेगी तो शरीर को ही लगेगी, आग में भी शरीर ही जलेगा। आत्मा तो निर्लेप है, उसे कभी कुछ होता नहीं और न वह कुछ करता ही है। ईश्वर एक है, वही अनन्त आत्माओं के रूप में प्रतीत होता है। वही ब्राह्मण, शरीर में है, वही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-शरीरों में विद्यमान है। इस विषय में बहुत बार तर्क भी किये जाते हैं। अनीश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर तो कहीं है ही नहीं। द्वैतवादियों का मत है कि जीव में और परमात्मा में बड़ा भारी अन्तर है। जीव सेवक है और परमात्मा स्वामी। इसके साथ वे जीव-जीव में भी भेद मानते हैं। अन्य मत भी हैं, जो मनुष्यों को किसी न किसी तर्क के आधार पर भ्रमित करते रहते हैं। किन्तु क्या कभी किसी तर्क से किसी अतर्क्य वस्तु का ज्ञान हो सकता है ? कदापि नहीं। विदुरनीति में कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः।।

"तर्क कहीं भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नही होता, क्योंकि श्रुतियाँ ही विभिन्न प्रकार की (विभिन्न मत वाली) हैं। ऋषि कोई एक हो तो नहीं है, जिसका वचन प्रमाण रूप मे मान लिया जाय। वस्तुत. धर्म का तत्व तो हृदय रूपी गुफा मे विद्यमान है, इसलिये महान् पुरुष जिस मार्ग से चलें, वही उचित मार्ग है।"

इसका तात्पर्य है कि तर्क हमे अपने लक्ष्य पर पहुँचने नहीं देगा। हम तर्क करते रहेंगे श्रुतियो के आधार पर किन्तु कोई एक श्रुति कुछ कहती है तो दूसरी श्रुति उससे भिन्न कहती है। उन भिन्न-भिन्न मन्तव्यो के कारण साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वान् भी भ्रमित हो जाते हैं।

अब प्रश्न होता है कि फिर किसकी बात मानें ? विदुर ने 'महाजन' शब्द के द्वारा किस की महत्ता प्रकट की है ? महाजन शब्द का अभिप्राय श्रेष्ठतम पुरुष से हो सकता है। उस श्रेष्ठतम पुरुष से जिसे श्रेष्ठ मनुष्यो का समुदाय सर्वश्रेष्ठ मानता हो। इस विषय मे मनु की भी लगभग ऐसी ही मान्यता है। यथा—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तम.।
स विज्ञेयो परोधर्मो न अज्ञाना उदितोऽयुतैः॥

"एक व्यक्ति भी यदि वेद के यथार्थ का ज्ञाता और विद्वानो मे श्रेष्ठ हो, वह धर्म के विषय मे जो निर्णय करे, उसी को परमधर्म मानो, इसके विपरीत, यदि हजारो अज्ञानी मिल कर भी धर्म की व्याख्या करें तो वह मानने योग्य नही।"

इससे यह निश्चय हुआ कि अज्ञानियो द्वारा निर्णीत धर्म अमान्य है, क्योंकि वह समाज के लिये कभी कल्याणकारी सिद्ध नही हो सकता। अब, प्रश्न हो सकता है कि विद्वानों मे श्रेष्ठ (द्विजोत्तम), कौन है ? तो मनु ने स्वय ही 'वेदविद्' कह कर इसका समाधान कर दिया है।

किन्तु वेदविद् का अर्थ उससे न समझ लिया जाय, जो ऋचाओं, मन्त्रों, श्लोकों को तोड़-मरोड़ कर उनके अर्थ करते हैं, और किसी पक्ष विशेष के प्रचार में उनका उपयोग करते हैं। मान्य अर्थ वह होना चाहिये जो सीधा-साधा हो। जिसमें किसी प्रकार का अर्थवाद या वितण्डावाद न हो।

आपने कभी सुना हो रामचरित मानस के विवेचकों और प्रवचन-कर्त्ताओं को, तो शायद आपने यह भी अनुमान किया होगा कि प्रत्येक वक्ता अपने-अपने ढँग पर उसके दोहे-चौपाइयों की व्याख्या कर रहा है। उस व्याख्या में इतनी अधिक तोड़-मरोड़ होती है कि अर्थ का अनर्थ ही हो जाता है। बेचारे तुलसीदासजी ने कभी अनुमान भी न किया होगा उन अर्थों का, इस कारण उनकी आत्मा या तो दुःखित होगी उस अर्थ-वाद से, अथवा चकित होगी अपनी रचना की विशिष्ट व्याख्या सुन कर। क्योंकि यह व्याख्याकार बाल से खाल निकालने का प्रयत्न करते हैं अथवा बाल में ही खाल को समाविष्ट कर देना चाहते हैं।

अब सोचिये कि उन चमत्कारी अर्थों से, जो बहुत बार अनर्थरूप होते हैं, किस श्रोता का क्या लाभ हो सकता है? अनर्थ तो अनर्थ ही है, उसका प्रभाव भी स्थायी नहीं रह सकता। क्योंकि जब उस अर्थ को गंभीरता से विचारते हैं तो यह अनुमान सहज ही हो सकता है कि वक्ता महोदय ने भले ही अपनी व्याख्या को तर्क के बल पर सिद्ध कर दिया हो, किन्तु वह यथार्थ नहीं है।

इसी प्रकार अन्यान्य धर्म ग्रन्थों पर, पुराणों और स्मृतियों पर भी अर्थवाद का शब्दजाल छाया हुआ है। जो लोग संस्कृत नहीं जानते वे तो विरुद्ध अर्थों को समझ ही नहीं सकते, बहुत-बार संस्कृत जानने वाले लोग भी तर्कवाद के कुचक्र में पड़ जाते हैं।

जानने योग्य चार विद्याएँ—

परन्तु ऐसे अर्थवादी लोग अपना महत्व कितना ही अधिक क्यों न बढ़ा लें, ज्ञानियों की श्रेणी मे शायद ही आ सकें। हम नहीं कहते कि वे विदुर नीति के 'न अज्ञा ना उदितोऽप्युर्नः' की श्रेणी मे आते हों, पर यह तो कह ही सकते हैं कि 'वेदविद्' तथा 'महाजन' की श्रेणी में नहीं आ सकते।

मनु ने कहा है—'आन्वीक्षिकी की त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती' यह चार विद्याएँ जानने योग्य हैं। आन्वीक्षिकी वह विद्या है, जिसके द्वारा आत्मा के स्वरूप का अन्वेषण होता है। यह विद्या सर्वोपरि है और अनिवार्य भी। न्याय-भाष्य के अनुसार—

> आश्रय: सर्व धर्माणां उपाय: सर्व कर्मणाम्।
> प्रदीप. सर्व विद्यानां विद्याद्देशे प्रकीर्तिता ॥

"यही विद्या सब धर्मों की आधार और सभी कर्मों की उपाय है। साथ ही अन्य जितनी भी विद्याएँ है, उनको प्रकाशित करने में दीपक स्वरूप यही है।" इसलिये यह विद्या मुख्य रूप से ज्ञातव्य है। क्योंकि इस आन्वीक्षिकी-आत्मविद्या के बिना न तो ससार का ही स्वरूप जानने में आता है, न किसी व्यवहार मे समझ उत्पन्न होती है। शास्त्रों के अर्थ-अनर्थ का ज्ञान भी इसके बिना नही होता वस्तुत. सभी व्यवहारों मे हेतु हैं सुख-दु ख, जिनका यथार्थ स्वरूप भी इसी के द्वारा जाना जा सकता है।

मनु ने दूसरी विद्या बताई वेदत्रयी की। जिसने तीन वेदों का यथार्थ रूप में स्वाध्याय किया हो और क्रियात्मक रूप से व्यवहार मे प्रयोग किया हो, वही इस विद्या का जानने वाला हो सकता है। और जो इस विद्या को जान लेता है वह कोरे अर्थवाद मे न पड कर धर्म-अधर्म के विषय में सच्चा निर्णय ले सकता है।

अब तीसरी विद्या है वार्ता। किस समय किससे बात की जाय? किस समय न की जाय? किस विषय में क्या कहा जाय? यह सब तात्कालिक निर्णय के विषय हैं। बहुत-सी बातें अनायास पूछी जाती हैं, जिनका उत्तर समय पर नहीं बन पाता तो वार्ता के उद्देश्य की भी हानि होती है और अपनी योग्यता पर भी प्रभाव पड़ता है। इसीलिये हम देखते हैं कि विदेशों में जो राजदूत आदि भेजे जाते हैं, वे इतनी प्रखर बुद्धि के होते हैं कि अनायास किये गये प्रश्नों का उत्तर भी तुरन्त दे सकें।

वार्ता-शास्त्र भी एक प्रकार का विज्ञान ही है। उससे अर्थ-अनर्थ का ज्ञान, धनी-निर्धन होने के हेतु और उससे होने वाले हानि-लाभ तथा कृषि-कर्म, गोपालन, वाणिज्य-व्यवसाय आदि के सम्बन्ध में अपेक्षित ज्ञान होता है। मानव-जीवन में इस विद्या का बड़ा भारी महत्व है। किन्तु इसका यथार्थ रूप में अनुपालन वही कर सकता है, जिसने अहं-कार और हठधर्मी का त्याग कर दिया हो तथा जो ईर्ष्या, द्वेष, राग आदि से ऊपर उठ चुका हो।

चौथी विद्या है दण्डनीति। इसमें रक्षा और दमन दोनों ही निहित अपराधी को उचित दण्ड देने से समाज का मनोबल ऊँचा उठता है और आत्म-विश्वास जाग्रत होता है। किन्तु किसी निरपराध को दण्ड देना, दण्डनीति पर ही प्रहार करना है। ऐसा होने से दण्डनीति से समाज का विश्वास उठ जाता है।

इस प्रकार यह चार विद्याएँ प्रसिद्ध हैं। इनके जान लेने पर ही मनुष्य मनुष्य-जाति का हित-साधन कर सकता है। इन विद्याओं का ज्ञाता ही 'महाजन' कहलाने का अधिकारी है। उसके नेतृत्व में चलने वाले समाज में अव्यवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि वह अपने जाने कोई पाप नहीं करता, किसी से पक्षपात का व्यवहार नहीं करता।

वह तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोकादि से दूर रहता हुआ सदैव जन-हित की ही कामना करता है। महाभारत का वचन है—

शोक स्थान सहस्राणि भयस्थान शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितः॥

"मोहग्रस्त मूढो के मन मे प्रतिदिन हजारों प्रकार के शोक और सैंकडो प्रकार के भय विद्यमान रहते है, किन्तु पण्डितजन (विद्वान् पुरुष) इन मोह-भय आदि विकारो से दूर रहते हैं।"

इसका अर्थ हुआ पण्डित अर्थात् ब्राह्मण वह है जिसे मोह, शोक, भय आदि नही व्यापते और जो अनीतियुक्त कार्यों से सदा दूर रहते हैं। जिनमे यह सद्गुण नही, वे ब्राह्मण नही माने जा सकते। ऐसे लोगो को शूद्र कहा जा सकता है। क्योंकि मोह, शोक, भय आदि अज्ञानी को ही अधिक सन्तप्त करते हैं। क्षत्रिय भी जब रणक्षेत्र के लिये चलता है, तब मोह, शोक, भयादि का त्याग कर देता है। वैश्य भी अपनी आजीविका और कर्तव्य-कर्म के प्रति सावधान रहता है, इसलिये वह भी मोह, शोक या भय से ग्रस्त नही होता।

चार पुरुषार्थों का अभिप्राय—

अब जरा सोचें कि हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण कितना विशाल, उदार और महत्वपूर्ण रहा है। समाज-निर्माण की दिशा मे अग्रसर होने के लिये भी इसकी कितनी आवश्यकता है। हमारा प्रत्येक कार्य धर्म से आरम्भ होता और धर्म के साथ ही चलता है। यही कारण है कि शास्त्र-कारो ने मनुष्य के लिये चार पुरुषार्थ आवश्यक माने हैं। उनमें धर्म सबसे पहिले है। फिर हैं अर्थ, काम और मोक्ष। उसका तात्पर्य यह है अर्थोपार्जन करो अथवा अर्थवाद मे पडो तो धर्म को अवश्य ध्यान मे रखो। अधर्म पूर्वक उपार्जित धन किसी दिन स्वय नष्ट हो जाता है और

दर्शन का आरम्भ ही इस विषय से किया है। वे कहते हैं— 'अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः" अर्थात् (तीनों उपायों की सिद्धि होने पर) "अब जो तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति करने वाला अत्यन्त पुरुषार्थ मोक्ष है।"

यदि शूद्र को उस उपाय से वंचित कर दिया जाय तो उसे दुःख की प्राप्ति के लिये इस संसार-सागर में ही पड़ा रहना होगा। क्योंकि दुःख की निवृत्ति के लिये तो मोक्षोपाय अत्यावश्यक है। इसका तात्पर्य है कि शूद्रों को भी पुरुषार्थ सम्बन्धी सभी अधिकार वही हैं जो अन्य वर्णों को है।

इसीलिये शास्त्रकारों ने आत्मज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया है। क्योंकि उस ज्ञान के होने पर ही यह पता चल सकता है कि जो आत्मा ब्राह्मण में है, वही शूद्र में भी है। इसका उपाय याज्ञवल्क्य ने यह बताया है—

इज्याऽचार दमाहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेन आत्म-दर्शनम्।।

"यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि कर्मों का एक ही उद्देश्य है परम धर्म (परमात्म-धर्म) की प्राप्ति, जिसका उपाय योग-साधन के द्वारा आत्म-दर्शन करना है।"

और यह उपाय ऐसा है जिससे किसी को वंचित नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसमें कौन किसे रोक सकता है? यह तो हृदय का विषय है। कोई शूद्र अपने घर के किसी एकान्त स्थान में जाकर आत्म-ध्यान करने लगे तो उसकी उस साधना का फल तो उसे मिलेगा ही।

यह आत्मा समस्त धर्मों का, समस्त व्यवहारों का आश्रय है। वह चाहे ब्राह्मण-शरीर में हो अथवा शूद्र शरीर में। शास्त्र का ही वचन

है—'सोऽयमात्मा सर्वं विरुद्ध धर्माणा आश्रयः, द्वन्द्वमयोऽयं संसार.' अर्थात् 'यह आत्मा सभी विरुद्ध धर्मों का आश्रय है, यह ससार द्वन्द्वमय इसीलिये है।

विरुद्ध धर्मों को एक रूप करने का प्रयत्न—

अब प्रश्न यह है कि इन विरुद्ध धर्मों को एकरूप कैसे किया जाय ? महाभारत का वचन है 'अधिकारिभेदाद् धर्मभेद:' अर्थात् 'धर्म मे जो भेद उपस्थित होता है, उसका मुख्य कारण अधिकारी मे भेद होता है। धर्म-भेद के अन्य कारण भी कहे हैं महाभारत मे, जैसे कि देश, काल और निमित्त। स्थान-भेद से धर्म-भेद हो जाता है। देखते हैं कि यहाँ जो धर्म है, दस-बीस किलोमीटर जाने पर उसी धर्म मे कुछ बदलाव के सकेत मिलते हैं। उसके कारण स्थान की क्षेत्रीय स्थिति—अन्नोत्पादन, व्यापार-व्यवसाय, सामाजिक व्यवहार, शीतता उष्णता आदि अनेक हो सकते हैं। गर्म देश मे आप नित्य प्रति पर्याप्त समय तक ठण्डे पानी से स्नान कर सकते हैं। किन्तु ठण्डे देश मे नही कर सकते। इसी प्रकार ग्रीष्म और शीत ऋतु आदि के विषय में है।

निमित्त भी धर्म के भेद मे कारण बन जाता है। एक मनुष्य के लिये जो निमित्त धर्म होता है, दूसरे के लिये वही अधर्म बन जाता है। पात्र और उसके कर्म-विशेष से भी धर्म मे भेद दिखाई देता है। इसलिये धर्म का जो बाह्य रूप है, वह ससारी है, आत्मा से उसका कुछ भी सम्बन्ध नही। अतएव जिस धर्म से आत्मा का विकास हो, उसी का पालन करना चाहिये।

और जब हम ऐसा मानते हैं तब हमे सब धर्मों के विषय मे समझने का अवसर निकालना चाहिये। जिस धर्म मे जो बात उपयोगी प्रतीत हो, उसे ग्रहण करने मे कभी कोई हानि नही हो सकती।

हमने जिस चौथे पुरुषार्थ मोक्ष के विषय मे कहा था कि उसकी प्राप्ति का प्रयत्न सभी के लिये आवश्यक है। किन्तु उसके लिये उपाय

रूप में योग, भक्ति, जप, तप, सेवा-पूजा आदि के रूप में उपासना करनी चाहिये। परन्तु कठिनाई यह है कि उपासना के सम्बन्ध में भी विचार-वैभिन्न की प्रतीति होती है। कोई कहता है कि निराकार की उपासना करो और कोई कहता है कि साकार की उपासना करो। जो लोग साकार-उपासना का प्रतिपादन करते है, उन्होंने उसके लिये बड़े-छोटे अनेक मन्दिर बनवाकर उनमें मूर्तियाँ स्थापित कर दीं। प्राण-प्रतिष्ठा के साथ ही उनके नियमित रूप से राग-भोग आरती आदि की व्यवस्था की गई। हजारों भक्तजन उन मन्दिरों में जाकर भगवान् के दर्शन करके अपने को धन्य मानते हैं।

धारणा-ध्यान का आरंभिक साधन–

किन्तु निराकार के उपासकों का कथन है कि मूर्ति-पूजा निरर्थक है। क्योंकि मूर्ति भगवान् नहीं हो सकता। शायद उनका विचार उनके विचार उनके दृष्टिकोण से ठीक भी हो। पर, इतना तो है ही मूर्ति रूप में की जाने वाली प्रतीक-पूजा भगवान् में चित्त को निमग्न करने वाली हो सकती है। वस्तुतः जब हम भगवान् का ध्यान करने बैठे तो ध्यान के लिये कोई आकार तो होना ही चाहिये। क्योंकि 'तत्रूयतां अनाधारा धारणा न उपपद्यते' केवल सुनने या नाम लेने मात्र से धारणा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसके लिये कोई रूप चाहिये—कोई प्रतिमा चाहिये, जिसका ध्यान किया जा सके। वह प्रतिमा चाहे पाषाण की, धातु की, मिट्टी की अथवा चित्र रूप ही क्यों न हो।

यह साधन है धारणा, ध्यान का। इसके द्वारा समाधि पर्यन्त पहुँचा जा सकता है। फिर तो साधक के ध्यान से मूर्ति भी निकल जाती है और निराकार-साधना का आरम्भ हो जाता है।

इस प्रकार मन्दिर भी उपयोगी हैं, उनकी मूर्तियाँ भी श्रद्धा के योग्य हैं। क्योंकि प्रतीक रूप में किसी की भी उपासना करो, वही भगवान्

बन जायेगा। किन्तु कोई कहे कि तीर्थों में और मन्दिरो मे भगवान् का निवास है तो हम उनसे पूछ सकते हैं कि ऐसा कौन-सा स्थान है, कौन-सी वस्तु है जिसमे भगवान् नही बसते। "ईशावास्यमिद सर्वं यत्किंचित् जगत्या जगत्" संसार मे जहाँ जो कुछ भी है, उस सबमे परमात्मा का निवास है, तब मन्दिरो मे, तीर्थों मे भगवान् क्यो न होगा ?

किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि जहाँ जल हो, वही तीर्थ हो गया, अथवा जहाँ मूर्ति रखी गई वही मन्दिर बन गया। भागवत का ही वचन है इस विषय मे—

न ह्यमयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्ति उरुकालेन दर्शनाद् एव साधव ॥

अर्थात्—"तीर्थ जल से ही नही बन जाते, मिट्टी या पत्थर से देवताओं का भी निर्माण नहीं किया जा सकता। उनकी उपासना करें भी तो सिद्धि मिलने मे ही बहुत समय लगेगा। किन्तु सच्चे साधु-सन्तो के तो दर्शन ही पवित्र कर देते हैं।"

साधु-सन्तो के विषय मे हमें अश्रद्धा नही है, किन्तु उनके वेश मे अनेक असाधु उत्पन्न होकर इस रूप को असम्मान जनक बनाने मे लगे हैं। इसलिये लोगो के श्रद्धा-विश्वास मे भी कमी आई है। किन्तु यदि मनुष्य चाहे तो साधु-असाधु का पता भी सहज ही लग सकता है। साधु संगति का महत्व भी कम नही है और तीर्थों, मन्दिरो आदि का भी। इसलिये जहाँ ऐसा सुयोग मिले, उसे छोडा भी क्यो जाय ? उसके पानी मे गन्दगी न रहे। वैज्ञानिको की मान्यता है कि यमुनोत्री मे निकली यमुना और गंगोत्री से निकली गंगा, दोनो ही मार्ग मे मल-मूत्र आदि से युक्त नालो के मिलने से इलाहाबाद पहुँचने से पहिले ही इतनी अशुद्ध हो गई है कि उसके पानी मे अनेक प्रकार के रोगो की उत्पत्ति हो सकती है।

विद्वानों का कथन है कि सत्य का ज्ञान तभी होता है, जब असत्य का अनुभव हो जाता है। इसलिये 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समाचरेत्' अर्थात् 'प्रथम असत्य का अनुभव करे, जिससे कि उसके दोषों का ज्ञान हो जाय। जब वैसा ज्ञान हो जायगा, तब स्वतः ही उसके प्रति अरुचि होने लगेगी। तब मनुष्य को सत्य का ही समाचरण करना चाहिये।

क्योंकि उससे यह पता चल जाता है कि शरीर और आत्मा में भेद है या नहीं? अमुक व्यक्ति श्रेष्ठ आचरण वाला है या नहीं? यह मूर्ति देवता है अथवा नहीं? कौन-सा धर्म मानने योग्य हैं, कौन-सा नहीं है? इस सबका उत्तर सत्य और असत्य के अनुभव से ही हो सकता है।

यदि सुख का अनुभव करना है तो पहिले दुःख का अनुभव करो और तब समझो कि सुख क्या है? क्योंकि दुःख के ज्ञान में ही सुख का ज्ञान निहित है। उसके बिना जो दुःख है, वही सुख रूप लगेगा। वस्तुतः संसार में जो सुख है, वह अस्थायी है। उसकी परणिति दुःख में बदल जाती है। लगता है कि स्त्री में सुख है, सन्तान में सुख है, धन में सुख है, कीर्ति में सुख है। और भी ऐसी बहुत-सी बातें हैं, जिनमें सुख दिखाई देता है। किन्तु अधिकांश में तो यह सभी दुःख रूप है। न स्त्री से स्थायी सुख मिलने वाला है, न धन-सन्तान से, कीर्ति भी कभी-कभी अपकीर्ति बन जाती है। इसलिये सांसारिक सुख का मोह छोड़ कर उस सुख की खोज करना कर्त्तव्य है, जो चिरस्थायी हो। पर, वह सुख है कौन-सा? शास्त्र के इस वचन पर ध्यान दीजिये—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्पदः स्वपदाऽस्पदम्॥

अर्थात्—"जिसमें दुःख निहित नहीं है, जो कभी नष्ट नहीं होता तथा अभिलाषा के अनुसार उपलब्ध होता है, वह पद 'स्व' पद है।"

'स्व' का तात्पर्य आत्मा से है। जब तक मनुष्य मे अहंकार रहता है, तब तक उसके साथ लगी रहती है 'मैं' और मैं जब तक है, तब तक देहाध्यास रहेगा, 'स्व' का ज्ञान—आत्मा का ज्ञान हो ही नही सकता। इसलिये सच्चा सुख खोजते हो तो मिलेगा अहकार का त्याग करने पर, तभी मनुष्य आत्मज्ञान का अधिकारी होता है।

इसी आत्मज्ञान की भित्ति पर स्थिर खडा था हमारा हिन्दू समाज सभी जानते थे कि आत्मा रूप से सभी मे विद्यमान है परमात्मा, इसलिये ऊँच-नीच का भेद भी उनकी दृष्टि मे अनावश्यक था। आवश्यक होने पर ब्राह्मण-परिवार मे उत्पन्न मनुष्य भी क्षत्रियो का साथ देते और युद्ध करते थे। महाभारत मे ऐसी अनेक प्रकार की घटनाएँ मिलती हैं। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि सब ब्राह्मण ही थे, जिन्होंने पाण्डवो के विरुद्ध हाथो मे शस्त्रास्त्र ग्रहण किये और युद्ध की बागडोर भी सँभाली।

जब भारतवर्ष पर सिकन्दर ने आक्रमण किया, तब शूद्रक और मालव गणराज्यो के ब्राह्मण भी शास्त्रार्थ के समान ही शस्त्रार्थ मे आ डटे और कुशलता पूर्वक युद्ध किया। इतिहासकारो का कथन है कि उस युद्ध मे पाँच हजार ब्राह्मण हँसते-हँसते बलिदान हो गये। उनकी निष्ठा युद्ध मे मर जाने की थी, कायरता पूर्वक युद्ध के भागने अथवा आत्मसमर्पण करने मे नही थी। कर्टिस का कथन है कि "इन लोगो के कठिन प्रतिरोध के कारण सिकन्दर अधिक व्यक्तियों को बन्दी नही बना सका।"

सिकन्दर जीत रहा था, किन्तु उसकी सेना के हौसले पस्त थे। कोई भी भारतवासी सहर्ष मरना स्वीकार करता, किन्तु उसका साथ देने को राजी न था। जब सिकन्दर तक्षशिला मे था तभी कन्धार के भारतीय अधिकारी ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जब वह आगे

न बढ़ कर पीछे की ओर लौट रहा था, तब उसके द्वारा नियुक्त क्षत्रप को मार डाला गया। इससे पता चलता है हिन्दू समाज कितना संगठित था।

उसके कुछ ही वर्षों बाद यूनानी सेनापति निकेतोर ने उसी प्रकार का भयंकर आक्रमण किया, किन्तु उस समय तक सम्राट् चंद्रगुप्त ने समस्त हिन्दू जाति को सगठित करके उसे एक झंडे के नीचे खड़ा कर दिया था, इसलिये उसका आक्रमण बात की बात में विफल हो गया था।

एकता में बड़ी शक्ति है। हम इस समय स्वतन्त्र तो हैं, किन्तु इस स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये भी हिन्दुओं का संगठित रहना—एकता के सूत्र में बँधे रहना बहुत आवश्यक है।

हिन्दू एकता की नींव-धर्म

धर्म में वितण्डावाद का परिणाम—

जब तक हिन्दू-समाज धर्म में उपस्थित वितण्डावाद से बचा रहा, तब तक देश में एकता भी बनी रही और वह छिन्न-भिन्न होने से बचा रहा। विदेशियों और विधर्मियों का उसने डट कर मुकाबला किया। चप्पा-चप्पा भर भूमि पर युद्ध चलता था और लोग कड़े प्रतिरोध द्वारा अपने प्राण दे देते थे। शत्रुओं को आगे बढ़ने का अवसर तभी मिलता था, जब वे हिन्दू वीर अपने को बलिदान कर देते।

किन्तु इन आक्रमणों से हिन्दू जाति की बहुत भारी क्षति हुई ईसा की आठवीं शती में हिन्दुओं के हाथ से सिन्ध सदा के लिये चला गया।

उसके बाद पंजाब मे भी वही हुआ, यद्यपि वहाँ सिखो ने कडा प्रतिरोध किया तो भी असफलता ही हाथ लगी। उसके बाद राजपूतो, मराठो तथा अन्यान्य राजाओ ने एक होकर युद्ध किये और शत्रुओ के दाँत खट्टे कर दिये।

यद्यपि बलूचिस्तान और अफगानिस्तान पर पहिले हिन्दुओ का ही राज्य था। देश पर विधर्मियो का अधिकार जमाने वाले आक्रमक मुहम्मद गौरी के पितामह भी हिन्दू थे। किन्तु धर्म की विपरीतता के कारण वहाँ के हिन्दू मुसलमान बनते चले गये। उसके बाद तो तीस वर्ष की अवधि मे विधर्मियो ने हिन्दुओ पर बहुत अत्याचार किये—मन्दिर तोड़े गये, उनमे विद्यमान सम्पत्ति लूट ली गई, मूर्तियों को पाँवो से रौंदा गया, लाखों हिन्दुओ को बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया। साथ ही बडा भारी नर-सहार हुआ और यहाँ की नारियो को गुलाम बना कर रखा। बहुत-सी स्त्रियाँ विदेश ले जाकर बेच दी गईं। इससे स्पष्ट है कि हिन्दुओ की जीवनी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई थी और वे शत्रुओ के प्रतिशोध मे भी असमर्थ हो गये थे।

उसका कारण ? हिन्दुओ का अपने क्षेत्र मे ही सीमित रहना और पडोसी राज्य की भी हलचलो की जानकारी न रखना मुख्य कारण था। देश की सीमा पर कहाँ क्या हो रहा है ? शत्रुओ की गतिविधियाँ कैसी है ? इन बातो की ओर किसी भी राजा का ध्यान नही रहता था। वह सोचता था कि जहाँ किसी शत्रु का आक्रमण होगा, वहाँ के लोग स्वय उसकी रक्षा कर लेंगे। यदि वह प्रदेश पराजित भी हो जाय तो कोई बात नही, हमारे ऊपर आंच नही आनी चाहिये।

यद्यपि प्राचीन कालीन वाङमय—पुराणादि के द्वारा यह सिद्ध होता है कि हिन्दू राजे हिन्दुस्तान से बाहर जाकर भी अपना सिक्का जमाते थे। महाभारत मे भी पाण्डवो की दिग्विजय का जो वृत्तान्त

मिलता है, उससे भी यह सिद्ध है कि उनकी गतिविधियाँ भारत वर्ष तक ही सीमित नहीं थीं। किन्तु बाद में पण्डितों ने व्यवस्था देकर परदेश गमन का निषेध किया और अन्य धर्म वालों के साथ खान-पान आदि कर दिया। इसके फलस्वरूप धर्म भीरु हिन्दू विधर्मियों को अपने प्रभाव में भी नहीं ला सकते थे।

पृथिवीराज से कन्नौज के राजा जयचन्द राठौर की शत्रुता थी। उसने इसीलिये दिल्ली पर हुए आक्रमण में उसका साथ नहीं दिया। वरन् कुछ लोगों का तो मत है कि उसी ने विधर्मियों को दिल्ली पर आक्रमण करने को उकसाया। किन्तु विधर्मियों ने कन्नौज को भी धूल में मिला दिया और काशी तक जा पहुंचे। उसके बाद तो मुसलमानी राज्य की नींव ही सुदृढ़ हो गई। उसके पश्चात् आबू क्षेत्र में हजारों क्षत्रिय वीर मारे गये। धीरे-धीरे विधर्मियों ने गुजरात पर भी अधिकार जमा लिया।

जब सन् १३०३ में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ को जीत लिया तब वहाँ की रानी पद्मिनी ने जौहर प्रथा (आत्मदाह) का अवलम्बन किया। उसके लगभग पन्द्रह हजार स्त्रियाँ चिताओं पर चढ़ गईं। सन् १३२० तक दक्षिण और १३३६ तक कश्मीर भी उनके कब्जे में चला गया।

यद्यपि विधर्मियों का उद्देश्य समूचे भारतवर्ष को पद दलित करके मुसलमान बना लेने का था, किन्तु राजस्थान, कर्नाटक, महाराष्ट्र और इधर पंजाब में हिन्दुओं का स्वाभिमान फिर से कुछ जगा और उन्होंने बार-बार मुसलमानों से टक्करें लीं, जिससे वे अपने उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सके। क्योंकि सिन्ध, कश्मीर, गुजरात, महाराष्ट्र, बिहार और बंगाल में जो मुस्लिम शासक स्वतंत्र रूप से सुलतान बन बैठे थे, वे दिल्ली के बादशाह से आये दिन झगड़ते रहते थे। वे स्वयं भी एक

नहीं हो सके क्योंकि अपना-अपना उत्कर्ष सभी चाहते थे, इसलिये परस्पर में भी संघर्ष करते रहते थे। इस प्रकार मुसलमान भी भीतर से दुर्बल हो रहे थे अपनी फूट के कारण। यदि उस समय हिन्दू सावधान होते तो मुस्लिम सत्ता को थोड़े से ही कठिन प्रतिरोध मे छिन्न-भिन्न कर सकते थे। और ऐसा होता तो आज देश का नक्शा ही दूसरा होता।

आत्म-सम्मान की भावना का लोप–

वस्तुत. इस समय तक हिन्दुओं मे आत्म-समान की भावना और आकांक्षाओं का लोप हो चुका था। क्योंकि वे बार-बार के विध्वस से अत्यन्त त्रस्त हो रहे थे। राजपूताने के राजागण परस्पर अपनी-अपनी मूँछ ऊँची रखना चाहते थे, इसलिये यह भी अपने तक ही सीमित रहे। यदि यह लोग चाहते तो राणाप्रताप के नेतृत्व में उनके सहायक रूप से आगे बढते तो दिल्ली पर हिन्दुओं का पुन: अधिकार होना असंभव नही था।

इन राजपूतों ने सोचा कि हमारा अपना राज्य बचा रहे, इस दृष्टि से वे किसी हिन्दू राजा के प्रति झुकने को तैयार न थे। उनमे धर्म का अभिमान भी था, किन्तु अपने-अपने वश के अभिमान के आगे धर्म की भी परवाह नहीं करते थे।

किन्तु विधर्मियों ने उनके वशाभिमान पर भी करारी चोट की। मुगलों ने एक-एक करके इन राजाओं को पराजित किया और सन्धि का आधार बनाया उनकी कन्याओं को। इसलिये उन्हे विवश होकर भारी धनराशि के साथ अपनी-अपनी कन्याएँ भी देनी पड़ी और उनकी दासता भी स्वीकार करनी पड़ी। इस प्रकार, न तो वे अपने वश का अभिमान बचा सके और न स्वधर्म ही।

वस्तुतः जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, आदि के राजा अत्यन्त वीर, साहसी और हिन्दू धर्म के प्रति भी निष्ठावान थे। इनमें से कुछ राजाओं ने तो अपनी कन्याएँ ही नहीं दीं, वरन् मुगल-साम्राज्य के विस्तार में भी बहुत सहायक हुए। उन्होंने दिल्ली-सम्राट् को प्रसन्न रखने के लिये देश से बाहर जाकर भी युद्ध करने पड़े। मिर्जा राजा जयसिंह तो इतना आगे बढ़ चुका था कि वह दिल्ली का भाग्य ही अपने हाथ में बताता था।

यद्यपि उसका कथन ठीक भी था, क्योंकि उसके पास घुड़ सवार सेना की संख्या ही बाईस हजार से कम न थी। फिर भी वह अपने धर्म का अभिमान त्याग कर बादशाह का सेवक बना रहा और हिन्दू-राज्यों को समाप्त कर दिल्ली के राज्य-विस्तार में लगा रहा।

जब मनुष्य स्वधर्म को भूल कर वंशाभिमान को महत्व देता है, तब उसकी विवेक बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। क्योंकि स्वधर्म से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है और क्षत्रिय का स्वधर्म अपने राष्ट्र की रक्षा करना ही है। किन्तु इन राजाओं ने राष्ट्र-रक्षा की ओर से मुख मोड़ लिया। इससे स्पष्ट है कि स्वराज्य के प्रति भी वे कितने उदासीन हो गये थे।

उन्होंने शायद गो-ब्राह्मण-पूजन, तीर्थ यात्रा, मन्दिर-दर्शन, दान-पुण्य, व्रतोपवास आदि तक ही स्वधर्म को सीमित मान लिया था। प्रत्येक हिन्दू यद्यपि इन्हीं सब कार्यों को धर्म का मुख्य स्वरूप मानता और इनमें श्रद्धा-विश्वास रखता है।

किन्तु क्या यह अन्ध श्रद्धा नहीं है कि हम अपने समाज के उत्कर्ष को एक ओर उठा कर रख दें, और जातिगत विद्वेष की आग में जलने लगें। हमारे ऋषियों ने धर्म-व्यवस्था का निर्माण व्यक्ति की दृष्टि से नहीं

वरन् समाज के अभ्युदय की दृष्टि से किया था। इस उद्देश्य की उपेक्षा ही हिन्दू-समाज के पतन मे मुख्य कारण बनी। और यदि समाज पतनोन्मुख होता है तो कोई व्यक्ति भी गिरने से कैसे बचेगा।

ब्राह्मण और क्षत्रियो का मिल कर स्वधर्म रक्षा मे तत्पर रहने के अनेक प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों मे मिलते है। महाभारत मे कहा है कि 'क्षत्रिय मे सामर्थ्य-शक्ति की वृद्धि, ब्राह्मण करता है, किन्तु ब्राह्मण के उत्कर्ष मे क्षत्रिय सहायक होता है।' शान्ति पर्व के अनुसार—'एक मात्र राजधर्म मे अन्य सभी धर्म विलीन हो जाते हैं।' इसका अर्थ है कि मनुष्य का सर्वोपरि धर्म अपने राष्ट्र की रक्षा करना है। उसके प्रयत्न मे यदि अन्य धर्मों को उस समय छोड़ भी दिया जाय तो कुछ अनुचित नही।

किन्तु हिन्दू राजा, जो अपने को क्षत्रिय कहते थे, वे अपने क्षात्रधर्म से ही हट गये। महाभारतकार का कथन है कि 'क्षत्रिय का धर्म तो शत्रु का विनाश करना है, उससे भिन्न उसका कोई धर्म नही।' इसके विपरीत—कुछ राजाओ ने शत्रु की दासता स्वीकार करके विधर्मियों की सत्ता की जड़ें मजबूत करने का प्रयत्न किया। राजा मानसिंह ने मुगलो की गुलामी तो की, किन्तु महाराणा प्रताप के समक्ष झुकने को तैयार न हुआ। वही मुगल सेना का चढा कर चित्तौड पर ले गया। वीर शिवाजी को भी इन मिथ्याभिमानियो ने कोई सहायता नही दी।

राणा सांगा (संग्रामसिंह) का नाम सभी इतिहास-प्रेमी जानते हैं। उन्होने बडी भारी सेना एकत्र की जिसमे हिन्दू तो थे ही, मुसलमान भी थे। किन्तु हिन्दुओ मे मरने-मारने के निश्चय की इसलिये कमी थी कि कही राणा का आधिपत्य न हो जाय और मुसलमानो का अफगान साम्राज्य की अभिलाषा थी, इसलिये उनमे राष्ट्र-निष्ठा का अभाव था।

इस प्रकार राणा सांगा की सेना में जो राजपूत-जातियां थीं, वे भी एक राष्ट्र, एक धर्म की भावना के प्रति निष्ठावान न थे। इस कारण वे एक तो कभी हो ही न सके, वरन् स्वधर्म से भी वंचित हो गये। वे शायद इस तथ्य से ही अनभिज्ञ थे कि स्वधर्म है क्या ?

राणा सांगा के वेतन पर लड़ने वाली मुस्लिम सेना को बाबर 'धर्म-भ्रष्ट' लोग बताता था। उसका कथन था कि वह सेना विधर्मी शत्रु की ओर से स्वधर्मी शासक के विरुद्ध लड़ी, इसलिये वह धार्मिक नहीं हो सकती। इसका अभिप्राय यह है कि मुसलमानों का अपने धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठावान होना ही उनके मुसलमान होने का प्रमाण है, जबकि हिन्दुओं ने अपनी राष्ट्र निष्ठा को समाप्त कर दिया, इस कारण उन्हें गुलामी का शिकार होना पड़ा।

हिन्दू-धर्म पर शक्तिशाली आक्रमण–

विधर्मियों ने सर्व प्रथम हिन्दू-धर्म पर ही करारी चोट की और उनकी साम्प्रदायिक निष्ठा को नष्ट कर दिया। हजारों मन्दिरों और धर्म-पीठों का विध्वंस कर दिया, बहुतों को मस्जिद के रूप में बदल दिया, लाखों स्त्रियों से बलात्कार कर उन्हें अपने घरों में रख लिया अथवा गुलाम बना कर विदेशों में बेच दिया।

इतने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं था। हमारे धर्म की जड़ें काटने के लिये हजारों धर्म ग्रन्थों की होली जलाई गई। कहते हैं कि वे ग्रन्थ कई दिनों तक होली की तरह जलाये जाते रहे। किन्तु इस सब का दोष विधर्मियों को देने की अपेक्षा हमें अपनी भूलों की ओर विशेष रूप से देखना चाहिये। हमने स्वराज्य को धर्म नहीं माना, अन्यथा सभी धर्मों का राष्ट्र-धर्म में अन्तर्भाव कर दिया होता और तब हम अधिक संगठित रह कर शत्रुओं का सामना करने में सक्षम रहते।

उत्तर भारत पर विधर्मियों का अधिकार होने पर तो अन्य भाग के शासकों को सचेत होना ही चाहिये था। किन्तु किसी भी हिन्दू या राजनेता ने इस ओर ध्यान न दिया, इसके फलस्वरूप चौदहवीं शती के आरम्भ से ही उन्होंने देवगिरि, वारंगल, मदुरा और द्वार-समुद्र—इन चारों अत्यन्त शक्तिशाली साम्राज्यों को नष्ट कर दिया।

उधर हिन्दू पण्डित अपने सम्प्रदायों को बढ़ावा देने में लगे थे। कोई द्वैत का प्रतिपादन करता तो कोई अद्वैत का, कोई हिन्दुओं के लिये आचार-संहिता की घोषणा में लगा था, तो कोई व्रत-उपवासादि के नियमों का उपदेश दे रहा था। कहा जा रहा था कि तीन बार स्नान करना ही धर्म-संगत है, उसके साथ तीन बार ही सन्ध्या करो। एकादशी के दिन उपवास करो, उसमें अन्न खाओ, कूटे-मावे आदि के पकवान आदि खूब तृप्त होकर छको। बैंगन खाना बिल्कुल छोड दो, गोभी भी वर्जित है। माथे पर तिलक लगाओ तो तिरछा, आड़ा या खड़ा। उसमें आकार कैसा हो तथा वह रोली का या चन्दन का ?

कोई गृहस्थ धर्म का उपदेश दे रहा था, कोई दान में कब क्या दिया जाय ? यह बता रहा था, कोई कहता था कि कन्या का विवाह शीघ्र कर दो, कम से कम रजस्वला होने से पहिले। 'अष्ट वर्षा भवेद् गौरी आदि शास्त्रकीय व्यवस्थायें भी उसी समय की हैं।

अछूतों के विषय में कहा गया कि उनका स्पर्श तो क्या, छाया से भी बचना चाहिये। यदि भूल से उनकी छाया पड़ भी जाय तो अमुक प्रायश्चित्त करना उचित है। इस प्रकार पण्डित इस माया-जाल में फँसे थे और दूसरों को फँसा रहे थे। किन्तु उनका ध्यान इस ओर नहीं था कि राष्ट्र नष्ट हो रहा है, साम्राज्य टूट रहे हैं, भीषण नर-संहार, लूट, अपहरण, बलात्कार आदि की घटनाएँ हो रही हैं, उन्हें किस प्रकार रोका जाय ?

पण्डितों का यह हाल था उस समय और राजाओं में पारस्परिक शत्रुता थी। एक-दूसरे को गिराने के प्रयत्न मे वे सब लगे थे। सन् १२९६ में देवगिरि का रामचन्द्रराव पहिली बार हारा और उसने एक निश्चित कर देना स्वीकार कर लिया। किन्तु कर अदा न करने के कारण लगभग आठ वर्ष बाद मलिक काफूर ने पुनः आक्रमण किया और उसे कैद करके दिल्ली ले गया। इस अवसर पर भी किसी अन्य राजा ने उसकी सहायता नहीं की। उसके पाँच वर्ष बाद रामचन्द्रराव भी मलिक काफूर के साथ उसकी सहायता के लिये कूद पड़ा, जिससे दक्षिण के राज्यों की पर्याप्त बर्बादी हुई। इस प्रकार दक्षिण पर भी कई बार आक्रमण हुए, किन्तु पारस्परिक फूट के कारण, स्वधर्म की उपेक्षा करके हिन्दुओं ने हिन्दुओं को ही हानि पहुँचाई। उन्होंने यह नहीं सोचा कि इस समय पारस्परिक शत्रुता को भूल कर यदि हम एक होकर युद्ध करें तो शत्रुओं को सहज ही भगाया जा सकता था।

किन्तु पारस्परिक विद्वेष की अग्नि तीव्र थी, उसके कारण शत्रुओं को सहज में ही सफलता मिल गई और मलिक काफूर रामेश्वरम् तक जा पहुँचा, जहाँ उसने मस्जिदें भी बनवा डालीं।

यह राजागण बार-बार पराजित होते रहे, किन्तु इन्हें संगठित होने का होश न आया। यदि यह लोग चाहते तो अपने को कम से कम सुरक्षात्मक दृष्टि से सुदृढ़ बना सकते थे। इसी बीच दिल्ली में अराजकता फैली तो भी इन्होंने कोई ऐसा कार्य न किया, जिससे शत्रुओं को कमजोर किया जा सकता। वरन् उस समय यह परस्पर एक-दूसरे का राज्य हड़पने के लिये लड़ रहे थे। बीच-बीच में सँभलने के पर्याप्त अवसर इन्हें मिले, किन्तु उससे इन्होंने लाभ नहीं उठाया।

यद्यपि राजा लोग असावधान और स्वधर्म से विमुख हो रहे थे, तो भी कुछ विद्वानों का मत था कि ऐसी स्थिति में धर्म के प्रति पतित-शुद्धि

की व्यवस्था दी जाय। आठवी शती मे ही देवल-स्मृति नामक एक स्मृति-ग्रन्थ की रचना हुई, जिसमे कहा गया कि जिन हिन्दुओ का बल-पूर्वक धर्म परिवर्तन किया गया—हो, वे पुनः शुद्ध किये जा सकते हैं।'

यद्यपि मिथ्याभिमानी पण्डितो ने उस ग्रन्थ को मान्य नही किया, इसलिये उसका अधिक प्रभाव नही हो सका। किन्तु चौदहवीं शती मे कुछ विद्वानो ने शुद्धि की अनिवार्यता समझी और देवल-स्मृति को मान्य किया। उन्होने तथा माधवाचार्य ने बलपूर्वक परिवर्तित धर्म वाले हिन्दुओ की पुनः शुद्धि की। जब काँपिली पर शत्रुओ ने आक्रमण कर वहाँ के राजा को मार डाला और उसके पुत्रो को पकड कर दिल्ली ले गये, तब मुहम्मद तुगलक ने उनका बल पूर्वक धर्म-परिवर्तन कराया और फिर उन्हें अपने सूबेदार बना कर राज्य की देख-रेख को वापिस वहीं भेज दिये। इन दोनो की इस्लाम-धर्म मे फिर भी निष्ठा नहीं थी, उन्हें विद्यारण्य ने शुद्ध होकर पुनः अपने धर्म मे लौटने को कहा और शृंगेरी के शकराचार्य की अनुमति से उन्हे शुद्ध कर लिया।

पुनः शुद्धि का श्री गणेश—

इस प्रकार शुद्ध करने की प्रथा का आरम्भ हुआ तो उसमे प्रगति भी होने लगी। यदि उस समय विद्यारण्य प्रभृति विद्वान् न होते तो हो सकता था कि भारतवर्ष मे कही कोई हिन्दू रहना ही नहीं। सभी नर-सहार मे मर-खप जाते अथवा धर्म परिवर्तन कर लेते।

उस समय विद्यारण्य का भी विरोध चल पडा, किन्तु उन्होने बड़ी बुद्धिमानी से कार्य लिया। उन्होने घोषणा की कि काँपिलीदेव का पुत्र हरिहर, जो पुन. शुद्ध कर हिन्दू बनाया गया है, स्वय यहाँ के राजा के रूप मे राज्य नही करेगा, वरन् भगवान् विरूपाक्ष के प्रतिनिधि के रूप मे रहेगा, जिसका अर्थ होगा कि साक्षात् भगवान् ही इस राज्य पर राज करेंगे। इसके विश्वास स्वरूप राजमुद्रा मे भी भगवान् का ही नाम

अङ्कित किया गया। इस कारण शुद्धि के विरोध वाली आग ठण्डी पड़ गई।

किन्तु विजय नगर साम्राज्य की स्थापना करने वाला राजा हरिहर दिल्ली के बादशाह का तो कोप-भाजन था ही, हिन्दू राजाओं ने भी उससे शत्रुता निबाही। बीर बल्लाल स्वयं सम्राट् बनना चाहता था, इसलिये वह उससे युद्ध की तैयारी करने लगा। किन्तु परिस्थिति ने मोड़ खाया और तुगलक के सूबेदार जलालुद्दीन ने धोखे से बीर बल्लाल को सन्धि के नाम पर अपने पास बुलाया हिन्दुओं की शक्ति अधिक दुर्बल हो गई।

कुछ भी हुआ, किन्तु विद्यारण्य प्रभृति दूरदर्शी धर्मगुरु ने हिन्दू जाति को बचाने का बहुत प्रयत्न किया। कांपिलीदेव के दोनों पुत्र हरिहर और बुक्क ने भी विजय नगर को सुदृढ़ करने में कुछ उठा न रखा। हरिहर के बाद जब बुक्क राजपद पर बैठा तो उसने सभी पण्डितों को एकत्र कर उनसे निवेदन किया कि वेद-शास्त्रादि के भाष्य नवीन सन्दर्भ के साथ लिखे जांय, जिससे कि जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि विभिन्न धर्मी मनुष्य पारस्परिक विद्वेष को मिटा कर एक होने का प्रयत्न कर सके। राजर्षि बुक्क को अपने इस उद्देश्य में सफलता भी मिली। क्योंकि उन्होंने सबको अपने-अपने विश्वास के अनुसार उपासना की स्वतन्त्रता दी। जब एक बार जैन और वैष्णवों में संघर्ष की नौबत आई तो बुक्क ने कहा कि 'वैष्णव-दर्शन और जैन-दर्शन में कुछ भी अन्तर नहीं है। दोनों को इस विषय में एक होना चाहिये। वस्तुतः वैष्णव और जैन परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करेंगे।' बुक्क ने ईसाई, यहूदी, मुसलमान आदि सभी को अपने-अपने धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता दे दी थी।

पन्द्रहवीं शती के अन्त में इस राजवंश ने भी जब दुर्बल और दुर्व्यसनी व्यक्ति हुए, तब सालुव नरसिंह नामक सेनापति ने राज्यसत्ता

छीन ली और उसने हिन्दू वीरो को एकत्र कर क्षात्र-धर्म सिखाया, जिससे बहुत से रणबांकुरे वीरों की सेना खडी हो गई। उसने कृषकों तथा व्यवसाइयों तक को सेना मे भर्ती किया। इसलिये वर्ण-भेद पर भी किसी के मन मे कट्टरता नही रही और इस प्रकार विजय नगर के झण्डे के नीचे सामान्य व्यक्तियो की सेना ही सेना खडी नही हुई, वरन् निकटस्थ क्षेत्रो के विशिष्ट व्यक्ति भी आखड़े हुए। यह समस्त सेनाएँ राष्ट्र धर्म के प्रति निष्ठावान थीं, इसलिये उनमे अत्यन्त उत्साह था विधर्मियों का सामना करने के लिये।

हिन्दुओं में स्वधर्म-निष्ठा की कमी—

किसी भी समाज के शक्तिशाली होने के यही लक्षण हैं कि वहाँ के लोगों में उत्साह, साहस, उमंग, आत्मबल और विजय की आकांक्षा हो। इसी कारण तुगभद्रा के दक्षिण मे विजयनगर-साम्राज्य दीर्घ समय तक टिका रहा। सदाशिव राव के पश्चात् जब रामराजा वहाँ का राजा हुआ, तब उसने भी अपनी कर्त्तव्य-परायणता मे कमी नही रखी। यह राजा शिक्षित भी था और नीतिज्ञ भी। बहमनी राज्य मे कई शाखाएँ थीं, जिनके मुसलमान शासक सुलतान कहलाते थे। वे सुलतान अपने राज्य का विस्तार करने के लिये परस्पर लड़ा करते थे। किन्तु उन्हे अपनी जीत के लिये रावराजा की सहायता लेनी होती थी। रावराजा भी उन्हे कमजोर करने के लिये उनमे से किसी एक को सहायता देता था। इस प्रकार उसने अपनी कूट नीति से काम लेकर विजयनगर साम्राज्य को अधिक मजबूत किया।

ईसवी सन् १५५७ मे आदिलशाह और कुतुबशाह नामक सुलतानों ने अहमदनगर के निमाज पर आक्रमण करने के लिये भी रावराजा की सहायता ली, जिससे निमाज का राज्य तहस-नहस हो गया। रावराजा ने भी मुसलमानो से बदला लेने की ठान ली और उसकी सेना ने अनेक

मस्जिदें नष्ट कर दीं। यदि उस समय बहमनी राज्य के सभी सुलतान परस्पर में एक न हो जाते तो विजयनगर का वहाँ एक-छत्र साम्राज्य हो जाता। किन्तु मुसलमानों ने जब विजयनगर का अत्यधिक उत्कर्ष देखा तो उन्होंने पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ कर विजयनगर पर आक्रमण कर उसे पंगु बना दिया।

मुसलमानों जैसा धर्माभिमान और चेतना हिन्दू राजाओं में कभी नहीं आ सकी। इसलिये वे परस्पर ही अधिक लड़ते रहे। यही कारण था कि हिन्दू राजा अधिकतर हारते रहे और जो भावना यवनों में थी अपने धर्म के प्रति, जिसका उद्देश्य हिन्दू राज्यों को समाप्त कर देना था, वह यदि हिन्दुओं में भी रहती तो इतनी अधिक पराज्यों से बचा जा सकता था।

यवनों की जब-जब हार होती, तब-तब ही वे पारस्परिक शत्रुता छोड़ कर हिन्दुओं के विरुद्ध एक हो जाते। उस समय हिन्दू राजाओं के यहाँ मुसलमान उच्च सैनिक पदों पर थे तो मुसलमान-सत्ताओं में हिन्दू भी उच्च पदों पर रहे। किन्तु मुसलमान धर्म के प्रति कट्टर होने के कारण अपने स्वामियों को धोखा देने से नहीं चूके, जबकि हिन्दू-सरदारों ने अपने राष्ट्र, धर्म और भक्ति को तिलांजलि देकर शत्रुओं में जा मिले। जो शत्रुओं की सेवा में थे, वे तो उनके प्रति वफादार ही रहे।

उदाहरण स्वरूप, जब सिन्ध पर कासिम ने आक्रमण किया तब वहाँ के हिन्दू सरदारों ने कासिम के साथ मिल कर धर्म-द्रोह और स्वामि-द्रोह का उदाहरण प्रस्तुत किया। जबकि बाबर और राणा सांगा के मध्य हुए युद्ध में राणा के यवन-सरदार अपने स्वामी के साथ विश्वासघात करके बाबर के साथ जा मिले।

रामराजा के साथ भी यही हुआ, उसके मुस्लिम सरदारों ने उसे धोखा दिया और उसके डेढ़ लाख विधर्मी सैनिकों ने अपने ही साथी

हिन्दु-सैनिकों का नर-संहार किया। किन्तु हिन्दू-सेना सदैव अपनी स्वामि-भक्ति का परिचय देती रही। जहांगीर, शाहजहां, औरंगजेब, अकबर आदि मुस्लिम बादशाहों के पास अनेक हिन्दू अधिकारी थे। वे सब ईमानदारी से हिन्दुओं से लड़ते रहे। इसमें चाहे स्वधर्म-द्रोह भले ही हो, किन्तु स्वामि-द्रोह की गन्ध भी नहीं थी। राणा प्रताप का एक भाई अकबर की नौकरी में था, इसलिये उसने राणा का साथ नहीं दिया। उसका मत था कि स्वामि-द्रोह का पाप भी स्वधर्म का नाशक बन जाता है।

रामराजा के पश्चात् भी विजयनगर साम्राज्य लगभग तीस वर्षों टिका रहा। उसके बाद उसकी नींव हिलने लगी। क्योंकि इस हिन्दू-साम्राज्य को नष्ट करने के लिये तीन मुस्लिम सल्तनतें एक हो गई और उन्होंने मिल कर जोरदार आक्रमण किया। उस समय विजयनगर ने हिन्दुओं को एक होकर सहायता करने को आमन्त्रित किया, किन्तु किसी ने भी उसका साथ नहीं दिया। इसके पश्चात् मीर जुम्ला और मुस्तफाखान ने शाहजी भोसले के साथ मिल कर सभी राज्यों पर आक्रमण किये, जिससे विजयनगर का ही नहीं, अन्य हिन्दू-सत्ताओं का भी विध्वंस हो गया।

शाहजी भोसले हिन्दू राजा था, किन्तु उसी ने दक्षिण के सब हिन्दू-राज्यों के पतन में विधर्मियों का साथ दिया। वह कभी अहमदनगर के निजाम से जा मिलता तो कभी दिल्ली के मुगल बादशाह से। किन्तु उसने कभी किसी हिन्दू राजा का साथ नहीं दिया। उसी के पुत्र हुए छत्रपति शिवाजी, जिन्होंने मुस्लिम सत्ताओं से निरन्तर संघर्ष किये। किन्तु शाहजी ने तब भी बीजापुरी की गुलामी नहीं छोड़ी। यदि उसने अपने पुत्र का उस समय भी साथ दिया होता तो दक्षिण के सभी मुस्लिम राज्य उखड़ गये होते।

वस्तुत: हिन्दू समाज ने एक होने के लिये कभी प्रयत्न नहीं किये। यदि कुछ प्रयत्न हुए भी तो वे पारस्परिक वैमनस्य की आग में जला दिये गये। परस्पर लड़ते तो भी भारतवर्ष का उतना अहित न होता, जितना कि विधर्मियों के साथ मिलने से हुआ। यदि उनमें राष्ट्र के प्रति निष्ठा और स्वधर्म के प्रति आस्था होती तो हिन्दू राज्यों का पतन इस प्रकार से न हो पाता।

जो हिन्दू सरदार मुसलमानों की सेवा में थे, वे अपने राष्ट्राभिमान और स्वधर्म को भूले हुए थे। उन्होंने स्वामि-भक्ति का ही आश्रय लिया हुआ था। किन्तु उन्हें इस बात का ध्यान नहीं था कि विधर्मियों ने उन्हें बलपूर्वक अपनी दासता दी थी और उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचाई थी। जबकि मुसलमान सरदार अपने धर्म के प्रति अत्यन्त निष्ठावान रहे और हिन्दू-स्वामियों के साथ विश्वासघात करने से बाज न आये। क्योंकि उन्हें धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ माना और वे धर्म के नाम पर ही एक होते रहे।

क्षत्रिय वीरों के लिये जहाँ अपने क्षात्रधर्म के प्रति निष्ठावान होना चाहिये, उतना ही स्वदेश के प्रति भी। क्योंकि क्षात्रधर्म स्वदेश रक्षा का—स्वतन्त्रता का ही साधन मात्र है। किन्तु हिन्दू राजाओं में स्वराज्य और स्वधर्म के प्रति सदा भेद रहा। इसलिये उनका उद्देश्य केवल अपने शत्रु को ही गिराना रहा। उन शत्रुओं को जो हिन्दू थे, और मिलने पर विधर्मियों के विध्वंस में सहायक हो सकते थे।

दक्षिण ही क्या, अन्यत्र भी ऐसा ही रहा। भारतीय राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य ने और वर्ण-भेद तथा वर्ग-भेद ने विधर्मी-सत्ताओं को मजबूती से पाँव जमाने का अवसर प्रदान किये।

अभी भी हिन्दू जाति उतनी सजग नहीं हुई है, जितनी होनी चाहिये। यद्यपि भारतवर्ष स्वतंत्र है, किन्तु स्वतन्त्रता की रक्षा

के लिये हिन्दुओं को वर्ण-भेद और वर्ग-भेद का त्याग करके एक हो जाना चाहिये।

किन्तु किस प्रकार एकता स्थापित हो हिन्दुओं में, यह प्रश्न भी विचारणीय रहा है। वस्तुतः एकता के लिये ऐसे समन्वित धर्म की अपेक्षा है, जिसमे पारस्परिक विद्वेष समाप्त हो सके और कोई किसी के प्रति घृणा-भाव न रखे। यदि पूजा-उपासना मे भी एकरूपता लाई जा सके तो राष्ट्र का बहुत कुछ हित-साधन हो सकता है।

विभिन्न सम्प्रदायों के पारस्परिक मत-भेद

ईश्वर एक है–

परब्रह्म परमात्मा एक है, वही सृष्टि के पूर्व और पश्चात् भी विद्यमान रहता है। हमारे उपनिषद् पुकार-पुकार कर इस तथ्य की उद्घोषणा करते रहे हैं। अनेक विद्वानो ने उपनिषद्-वाक्यो को धर्म की आँखो से देखा और सत्य की कसौटी पर परखा, तब उनकी भी यही धारणा बनी कि 'ईश्वर' एक है। पुराण आदि मे जहाँ द्वैतवाद की झलक मिलती हैं और अवतारवाद का प्रतिपादन मिलता है, वह भी 'ईश्वर' की एक सत्ता का ही रूपको के रूप मे गुणगान मात्र है। गणेश-पुराण के

अनुसार गणेश सर्वश्रेष्ठ हैं, शिव-पुराण के अनुसार विष्णु। इसी प्रकार अन्यान्य पुराण अन्यान्य देवी-देवताओं का महत्व वर्णन करते हैं। किन्तु इस प्रकार के प्रसग-वैभिन्न और नाम-भेद से यह नहीं समझना चाहिये कि 'ईश्वर' अनेक हैं।

सभी आत्माएँ ईश्वर की अंशभूत हैं, सर्गकाल में एक ही ईश्वर अनन्त रूप धारण करके व्यक्त होता है। जिसमें जितनी अधिक प्रतिभा होती है, वह उतना ही अधिक शक्तिशाली और विशिष्ट होता है। जिसमें सामान्य मानवीय क्षमता से अधिक क्षमता हो, वह व्यक्ति विशिष्टता की परिधि में आकर अवतार मान लिया जाता है। इसी कारण राम, कृष्ण आदि की अवतार कोटि में मान्यता हुई।

किन्तु द्वैतवादियों ने ईश्वर को जीव से भिन्न समझा और विशिष्ट गुण वालों को ईश्वर का ही अवतार माना। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणेश, इन्द्र आदि सब एक ही परमात्मा के नाम हैं। उसी परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम ओंकार है, जिसका महत्व इसी से प्रकट हो जाता है कि कोई भी मन्त्र आदि में ओंकार लगाये बिना सिद्धिदायक नहीं होता। कहीं-कहीं तो मध्य और आदि में भी ओंकार के योग का नियम हैं।

इस प्रकार गणेश, शिव, विष्णु आदि सभी नाम अपने-अपने गुण, कर्म, स्वभाव के भेद से पृथक-पृथक् माने गये। किन्तु ठीक प्रकार से तात्पर्यार्थ न समझने के कारण प्रतीत होता है कि यह सब अलग-अलग हैं। कुछ विद्वान् तो पुराणादि को कोरी कल्पना ही मानते हैं। देवी-भागवत में कहा है—

प्राप्ते कलावहह दुष्टतरे च काले
न त्वां भजन्ति मनुजा ननु वंचितास्ते।
धूर्तैः पुराण चतुरैर्हरिशंकराणां
सेवापराश्च विहितास्तव निर्मितानाम्॥

अर्थात्—"दुस्तर कलिकाल के प्राप्त होने पर मनुष्य तुम्हारे भजन से विमुख हो गये हैं। क्योंकि पुराण-निर्माण में चतुर धूर्तों ने अपनी उदरपूर्ति के निमित्त विष्णु-शिव आदि की उपासना का प्रतिपादन किया।"

भगवान् आदि शंकराचार्य ने इस विषय में गहरा अध्ययन किया, जिससे उन्हें धार्मिकों की मान्यताएँ उचित प्रतीत नहीं हुईं। उन्हें विश्वास था कि परमात्मा एक ही है। इसलिये 'शंकर-दिग्विजय' के अनुसार वे गणेश-पूजकों को सचेत करते हुए कहते हैं—"हे गणपति के उपासकों! तुम्हारे द्वारा गणपति को ही सर्वोपरि मानना असत्य है। रुद्र के गणों के साथ उत्पन्न और नष्ट होने वाला, गजमुखी सगुण गणेश विश्व का कारण किस प्रकार हो सकता है? यदि गणेश को ही परब्रह्म मानें तो वह रुद्र-पुत्र होने से रुद्रादि का कारण भी नहीं हो सकता।" इसी संदर्भ में उन्होंने कहा—'अतो रुद्रादि कारणं ब्रह्मैव, स देव सौम्येदमग्र आसीत्' अर्थात् "इसलिये रुद्रादि का कारण (गणेश नहीं) ब्रह्म ही है। वही सत्य स्वरूप ब्रह्म सृष्टि से भी पहिले था।"

आप शंका कर सकते हैं कि यदि एक मात्र ब्रह्म ही था तो यह ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि कहाँ से आये? क्या इनके नामकरण और अस्तित्व की बात कोरी कल्पना मात्र है? इसका समाधान शिव-पुराण और वृहन्नारदीय पुराण के निम्न श्लोकों से सहज ही हो जाता है, जिन्हें हम क्रमशः यहाँ उद्धृत करते हैं—

त्रिधाभिन्नोह्यहं विष्णो ब्रह्मा विष्णु हराख्यया।
सर्ग-रक्षा लय गुणैर्निष्कलोऽहं सदा हरे॥
—शिव पुराण २।१।६।२८

शिवजी कहते हैं—'हे विष्णो! हे हरे! सृष्टि के उत्पादक, पालन तथा संहार गुणों के कारण मेरे ही यह तीन नाम-भेद हुए। वस्तुतः मैं तो सदैव निष्कल (एक) ही हूँ।'

तमादि देवमजिरं केचिदाहुः शिवाभिधम्।
केचिद् विष्णुं सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदुच्यते॥
—बृ. नारदीय पुराण १।२।५

अर्थात् 'उस अनादि, अजर परमात्मा को कोई शिव नाम से पुकारते हैं। कोई मुझे विष्णु कहते हैं और कोई ब्रह्मा।'

यजुर्वेद ने भी स्पष्ट रूप से इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चंद्रमाः।
तदेव शुक्रंतद् ब्रह्म तद् आपः स प्रजापतिः॥
यजुर्वेद ३२।१

अर्थात्—'वह परमात्मा ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र ब्रह्म, वरुण और प्रजापति है'

देव-प्रतिमा-पूजन का ब्राह्मण को निषेध—

पद्मपुराण में कहा है कि विष्णु रूप परमात्मा के अतिरिक्त ब्राह्मण को किसी अन्य देवता का दर्शन भी नहीं करना चाहिये। न उसका पूजन करे, न प्रसाद सेवन करे और न मन्दिर में ही जाय। अन्य देवताओं का निर्माल्य ग्रहण करना विष्ठा के समान है। शंकर आदि देवताओं का निर्माल्य भक्षण करने वाला अवश्य ही चाण्डाल होता है। वह करोड़ कल्प पर्यन्त नरक की अग्नि में तपता रहता है। द्विजश्रेष्ठो! (यह भी स्मरण रहे कि) रुद्रादि देवताओं का निर्माल्य मद्य-मास के ही समान है।'

इसी प्रकार अन्यान्य पुराणों में अन्यान्य देवताओं के पूजन-अर्चन, भोग-राग आदि का निषेध मिलता है। भविष्य पुराण में एक वृत्तान्त है श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब द्वारा एक भव्य सूर्य-मन्दिर स्थापित करने का।

साम्ब ने इस मन्दिर का निर्माण शाप मुक्त होने की कामना से नारदजी की प्रेरणा से करवाया था। जब मन्दिर बन गया और उसमें सूर्य की प्रतिमा भी प्राण-प्रतिष्ठित एवं स्थापित हो गई। तब साम्ब ने नारदजी से निवेदन किया—'देवर्षे ! आपकी कृपा से मुझे सूर्य भगवान् के साक्षात दर्शन हो गये, जिससे मैं उत्कर्ष को प्राप्त हुआ हूं। परन्तु अब इस मन्दिर की रक्षा के विषय में चिन्ता है, उसकी निवृत्ति कैसे हो ? कौन सँभाले इस मन्दिर को ?' इस पर नारदजी बोले कि 'इस कार्य को ब्राह्मण को नहीं लेना चाहिये, क्योंकि देवधन से निर्वाह करने के कारण देवलक कहलाने वाले वे ब्राह्मण शूद्र के समान पंक्ति-बहिष्कृत होते हैं। जो ब्राह्मण लोभवश देवधन को ग्रहण करते हैं,' वे नरक में पड़ कर गृध्रों का उच्छिष्ट खाते हैं। इसलिये किसी ब्राह्मण को देवता का पुजारी नहीं बनना चाहिये। अब तुम सूर्यनारायण से पूछो कि उनका पूजन कौन यथा विधि कर सकता है ? अथवा महाराज उग्रसेन के पुरोहित से इस कार्य को स्वीकार करने की प्रार्थना करो।'

नारदजी की सम्मति से साम्ब ने उग्रसेन के पुरोहित से पूजा-व्यवस्था का निवेदन किया तो वे बोले—'साम्ब ! तुम राजा हो और हम ब्राह्मण हैं। यदि हम तुमसे इस प्रतिग्रह को ग्रहण कर लेंगे तो शूद्र के समान देवलक माने जायेंगे और जन्मान्तर में राक्षस बनेंगे। इससे तुम भी पाप के भागी होगे। ब्राह्मण अन्य सभी प्रकार के प्रतिग्रह ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु देव-प्रतिग्रह ग्रहण करना निषिद्ध है।'

इस प्रकार ब्राह्मण के लिये देव-प्रतिमा के पूजन का निषेध ही हुआ है। प्राय सभी पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणपति, शक्ति आदि का वर्णन हुआ है। किन्तु एक देवता का पुराण दूसरे देवता की निन्दा करता है। जिस देवता से जो पुराण सम्बन्धित है वह उसी देवता को सर्वोपरि स्वीकार करता है। इससे यह तथ्य प्रकट होता है कि मूर्ति पूजा की

भावना कुछ भी रही हो, किन्तु कालान्तर में चतुर लोगों ने इसे व्यवसाय रूप में अपना लिया। पुराणों के आधार पर ही विभिन्न सम्प्रदाय बने और उन्होंने उसी प्रकार साधारण जनता को आकर्षित किया, जैसे कोई दूकानदार अपने माल की प्रशंसा करके ग्राहक को आकर्षित करता है तथा दूसरों के माल में खोट दिखाता है।

बहुदेवतावाद और साम्प्रदायिक विद्वेष--

पुराणों के द्वारा बहुदेवतावाद का जन्म हुआ और इससे साम्प्रदायिक भावना उत्पन्न हुई, जिससे परस्पर में संघर्ष होने लगे। साम्प्रदायिकता के साथ उनके प्रतीक रूप में विभिन्न चिन्ह बनाये गये और उनका धारण करना अपने-अपने सम्प्रदाय में अनिवार्य कर दिया गया। यथा—

यच्छरीरं मनुष्याणामूर्ध्वपुण्ड्र विवर्जितम्।
द्रष्टव्य नैव तत्किंचित् श्मशान सदृशं भवेत्॥
ऊर्ध्वपुण्ड्र विहीनस्तु सन्ध्या कर्मादिकं चरेत्।
तत्सर्वं राक्षसैर्नीतं नरकं चाधिगच्छति॥

अर्थात्—जिस मनुष्य के शरीर पर ऊर्ध्वपुण्ड्र न हो उसे कभी भी न देखे। क्योंकि ऊर्ध्वपुण्ड्र रहित मस्तक श्मशान के समान है। जो ऊर्ध्वपुण्ड्र विहीन मनुष्य सन्ध्या आदि कर्म करता है, वह नरकगामी होता है।

पद्मपुराण में भी ऐसी ही मान्यता देखी जाती है—

न तस्य किंचिदश्नीयादपि क्रतु सहस्रिणः।
सर्वं वेदविदो वापि सर्व शास्त्र विशारदः॥
अधृत्वा विधिना चक्रं ब्राह्मणः पतितो भवेत्।

ऊर्ध्वपुण्ड्र विहीनस्तु शंखचक्र विवर्जितः ॥
त गर्दभे समारोह्य बहिः कुर्यात् स्वपत्तनात् ॥

अर्थात्—"यदि हजारों यज्ञों का कर्त्ता और वेदविज्ञ तथा शास्त्र-विशारद हो, किंतु विधिपूर्वक ऊर्ध्वपुण्ड्र और शंख-चक्र धारण न करता हो, उसके यहाँ कभी भोजन न करे, क्योंकि वह पतित होता है। उसे तो गधे पर चढा कर अपने नगर से बाहर निकाल दे।"

इसी प्रकार कुछ सम्प्रदायो मे कण्ठी-धारण आदि के विषय मे निर्देश मिलते हैं। कहीं मूर्तिमान शिव-पार्वती की पूजा प्रशस्त कही है तो कहीं शिवलिंग की ही मान्यता है। लिंगपुराण मे लिंग-पूजन को ही महत्त्व दिया गया है —

शिवलिंगं समुत्सृज्य यजन्ते चान्य देवता.।
सह नृपो सह देशेन रौरव नरक व्रजेत् ॥

अर्थात्—"जो राजा शिवलिंग का पूजन त्याग कर अन्य किसी देवता की उपासना करता है वह अपने देशवासियो के सहित रौरव नरक में जाता है।"

शिव पुराण मे ही एक मजेदार बात और कही गई है—'ब्रह्मत्वाच्च जीवत्वात् तथान्ये देवतागणाः' अर्थात् 'शिव के अतिरिक्त अन्य देवता जीव हैं, ब्रह्म तो शिव ही है।'

शिवपुराण मे एक कथा ब्रह्मा-विष्णु में पारस्परिक विवाद की मिलती है एक बार जब भगवान् विष्णु शेष शैया पर लक्ष्मी सहित सोते थे, तभी ब्रह्मज्ञानियों मे श्रेष्ठ ब्रह्माजी वहाँ आ गये। विष्णु को उठते न देख कर क्रोध से कहने लगे कि 'तुम अब भी अभिमानी पुरुष के समान सोये हुए हो। उठो, देखो, मैं तुम्हारा स्वामी यहाँ आया हुआ हूँ। क्योंकि जो गुरु को देखकर भी न उठे, उस मूढ को प्रायश्चित्त करना चाहिये।'

ब्रह्मा की बात सुन कर विष्णु को कुछ क्रोध तो हुआ, किन्तु उन्होंने क्रोध को रोकते हुए शान्त मुद्रा में कहा—'वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो, इस आसन पर बैठो। इस समय तुम्हारे नेत्रों में कुटिलता मुख में व्यग्रता झलकती है।' ब्रह्मा बोले—'तुम्हें अभिमान है, मैं तुम्हारा रक्षक और विश्व का पिता हूँ।' विष्णु बोले—'तुम चोर के समान इस विश्व को अपना क्यों कहते हो ? समस्त विश्व केवल मुझमें ही स्थित है। इसलिये मैं ही सबका स्वामी और सर्वश्रेष्ठ हूँ।' इस प्रकार दोनों में कठोर वार्तालाप हुआ और वे परस्पर एक-दूसरे को मारने को उद्यत हो गये।

पद्मपुराण में भगवान् विष्णु की ही महिमा सर्वोपरि मानी गई है। उसमें कहा है—

अनर्च्या ब्रह्मरुद्राद्या रजतमोविमिश्रिताः।
त्वं शुद्ध सत्वगुणवान् पूजनीयोऽग्रजन्मनाम् ॥

अर्थात्—"ब्रह्मा और रुद्र रजोगुण-तमोगुण से युक्त होने के कारण पूजन के योग्य नहीं हैं। हे जन्म लेने वालों में अग्रज विष्णो ! तुम ही शुद्ध सतोगुण से युक्त होने के कारण पूजन के योग्य हो।"

पद्मपुराण का ही एक अन्य श्लोक भी ज्ञातव्य है जिसमें विष्णु के समान किसी को नहीं माना है—

कतस्तेन तुल्यतामेति देवदेवेन विष्णुना।
यस्यांशांशावतारेण सर्व विश्व विलीयते ॥

अर्थात्—"देवों के भी देवता भगवान् विष्णु के समान कौन हो सकता है, जिनके अंशांश अवतार में समस्त विश्व विलीन हो जाता है।"

विष्णु रूप रामावतार को मानते हुए पद्मपुराणकार उनकी भी महिमा का बखान करते हैं।

राघवः सर्वदेवानां पावनः पुरुषोत्तमः।
स्पृष्टा दृष्टाश्च तेनैव विमलाः शंकरादयः॥

अर्थात्—"सभी देवताओं मे पुरुषोत्तम राघवेन्द्र श्रीराम अत्यन्त पवित्र हैं, जिनके स्पर्श और दर्शन से शकरादि देवता भी निष्पाप हो गये।"

शिव की महिमा का प्रतिपादन करने वाले पुराणो मे ब्रह्मा और विष्णु को दण्ड देने का भी वृत्तान्त मिलता है। एक कथा के अनुसार "शिवजी ने ब्रह्मा का गर्व खण्डन करने के लिये अपनी भौहो के मध्य भैरव को रचा। उस भैरव ने शिव को प्रणाम कर पूछा कि 'मैं क्या करूँ?' शिव बोले—'ससार के आदि देवता ब्रह्मा का तीक्ष्ण धार वाले खड्ग से पूजन करो।' श्लेष सुन कर भैरव ने ब्रह्मा का मिथ्याभाषी पाँचवाँ मस्तक काटने का विचार किया। तब तुम्हारे पिता ब्रह्मा ने अपने उत्तरीय, आभूषण, माला आदि का त्याग कर केश खोले और भैरव के चरणो मे काँपती हुई लता के समान गिर गये।"

भगवान् नृसिंह को विष्णु का अवतार माना जाता है। इसलिये उनकी भी दुर्दशा का वृत्तान्त मिलता है कि "हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद भी जब नृसिंह का क्रोध शान्त न हुआ, तब उनके समक्ष शिव प्रकट हुए, जिनकी तीक्ष्ण दाढ़ें तथा वज्र के समान नख थे। कण्ठ मे काल पड़ा था और उनके चार चरण थे। शरीर भयकर पंखों मे युक्त और चोंच से सुशोभित था।

उन शिवजी के दर्शन मात्र से ही नृसिंह का बल-विक्रम क्षीण हो गया। शिवजी ने अपने पंखो को घुमा कर उनकी मार से नृसिंह का नाभि और पाँवों का विदीर्ण किया तथा पूँछ से पाँवो को और हाथो से नृसिंह का हृदय चीर कर शिवजी सब देवताओ और ऋषियो के देखते हुए ही नृसिंह रूपधारी विष्णु को पकड़ कर आकाश-मार्ग से उड़ गये।

इस प्रकार उड़ते-उड़ते अपने पंखों से मार-मार कर शिवजी ने जब विष्णु को व्याकुल कर दिया तब प्राण बचाने के उद्देश्य से विष्णु बैल के नीचे जा छिपे।'

विभिन्न मत-मतान्तरों से पारस्परिक संघर्ष का जन्म—

पद्मपुराण में एक और मनोरंजक बात देखने में आती है, जिसमें शिवजी कहते हैं पार्वती से—

देवतानां हितार्थाय वृत्तिः पाषण्डिनां शुभे ।
कपाल चर्म भस्मास्थि धारणां तत्कृतं मया ।।
ये मे मतमाश्रित्य चरन्ति पृथिवी तले ।
सर्व धर्मेश्च रहिताः पश्यन्ति निरयं सदा ।।

अर्थात्—"हे शुभे ! मैंने देवताओं का हित-साधन करने के लिये कपाल, चर्म, भस्म और अस्थि धारण वाला पाखण्ड रूप बनाया है। किन्तु जो व्यक्ति मेरे मत को धारण करते हुए पृथिवी पर उसका आचरण करते हैं, वे सभी धर्मों से भ्रष्ट होकर सदा नरक ही देखते हैं।"

पद्म पुराण में मस्तक पर भस्म धारण तक करना पाप बताया है—

ब्राह्मणः कुलजो विद्वान् भस्मधारी भवेद्यदि ।
वर्जयेत्तादृशं देवि मद्योच्छिष्टं घटं यथा ।।

अर्थात्—"यदि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ कोई विद्वान् पुरुष भी मस्तक पर भस्म धारण करे तो उसका दर्शन भी इस प्रकार निषिद्ध है जैसे मदिरा से भरे घड़े का।

शक्ति ग्रन्थों में शक्ति की ही महिमा का प्रतिपादन अधिक मिलता है। देवी भागवत में भी एक बड़ी रोचक कथा आती है। देवी के

दर्शनार्थ ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीनों ही गये और देवी ने उन तीनों का स्त्री रूप बना दिया। उस वृत्तान्त को सुनाते हुए ब्रह्मा ने नारदजी से कहा कि मैंने वहाँ जो कुछ अद्भुत दृश्य देवी के नख रूपी दर्पण में देखा, वह कहता हूँ, सुनो—

ब्रह्माण्डमखिलं सर्वं तत्र स्थावर जंगमम् ।
अहं विष्णुश्च रुद्रश्च वायुरग्निर्यमो रविः ॥
वरुणः शीतगुस्त्वष्टा कुबेरः पाकशासनः ।
पर्वताः सागरा नद्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥
वैकुण्ठो ब्रह्मलोकश्च कैलासः पर्वतोत्तमः ।
सर्वं तदखिलं दृष्टं नखमध्य स्थितं च नः ॥
मज्जन्म पंकजं तत्र स्थितोऽहं चतुराननः ।
शेषशायी जगन्नाथस्तथा च मधुकैटभौ ॥
विष्णुश्च विश्वमाविष्टः शंकरश्च तथा स्थितः ।
तां तदा मेनिरे देवीं वयं विश्वस्य मातरम् ॥

अर्थात्—"वहाँ समस्त स्थावर-जंगम युक्त अखिल ब्रह्माण्ड, मैं विष्णु, रुद्र, वायु, अग्नि, यम, सूर्य, वरुण, चन्द्रमा, त्वष्टा, कुबेर, पर्वत, समुद्र, नदी, गन्धर्व, अप्सरा, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोक, पर्वतश्रेष्ठ कैलास, यह सभी वस्तुएँ उनके नख के मध्य हमने विद्यमान देखीं। कमल से अपना जन्म होता और कमल पर अपने को बैठा देखा। शेषशायी विष्णु और मधु-कैटभ को भी हमने वहाँ देखा। मेरे साथ विष्णु और शिव भी आश्चर्य में डूब गये और तब हम विश्व की माता को पहिचान पाये।"

देवी भागवत की ही एक अन्य कथा है कि इन्द्र के अनुरोध पर विष्णु ने भृगु की पत्नी को मार डाला, जिससे दुःखित हुए भृगु ने विष्णु को शाप देते हुए कहा—'विष्णो! किसी विप्र-कन्या की हत्या करने को

बात तो मन से भी नहीं सोची जाती। स्त्री जाति वैसे भी अवध्य है, तुमने तमोगुण से युक्त होकर इस अबला को मारने का निंदित कर्म क्यों किया? इस अपराध पर तुम्हें शाप देना ही उचित होगा। हे पापात्मा! इन्द्र के पक्ष में होकर तुमने ही मुझे विधुर बनाया है, इसलिये इन्द्र को नहीं, तुम्हीं को शाप दूँगा। तुम दुष्ट हो, सदैव सर्प के समान छल-कपट का व्यवहार करते हो। तुम्हें सतोगुणी कहने वाले मुनिजन मूर्ख हैं। आज मैंने प्रत्यक्ष ही देख लिया कि तुम तामसी और दुराचारी हो। मेरे शाप से तुम्हें मर्त्यलोक में अनेक बार जन्म लेना होगा और अपने पाप के फलस्वरूप गर्भ की यन्त्रणाएँ भोगनी होंगी।"

देवी भागवत के ही अनुसार विष्णु को भृगु मुनि के शाप से ही मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन आदि रूपों में उत्पन्न होना पड़ा। वस्तुतः विष्णु आदि सभी पराधीन हैं, फिर इन पराधीन देवताओं की उपासना करने वालों को जन्म-मरण का भय क्यों न होगा? देवी भागवत में ही एक श्लोक मिलता है—

किं चित्र नृप देवी सा ब्रह्मा विष्णु सुरानपि।
नर्तयत्यनिशं माया त्रिगुणानपरान् किम्॥

अर्थात्—'वह त्रिगुणात्मिका माया देवी यदि ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं को इस प्रकार नचाती रहती है तो इसमें आश्चर्य की भी क्या बात है।"

इस प्रकार शाक्त-ग्रन्थ देवी की ही महिमा से भरे मिलते हैं। पद्मपुराण में ब्रह्माजी को ही पूजा से बहिष्कृत करने का वृत्तान्त मिलता है, जिनके अनुसार ब्रह्माजी ने पुष्कर में यज्ञ किया। उस समय ब्रह्मा की पत्नी सावित्री के आने में विलम्ब हुआ देख कर इन्द्र एक गोप कन्या को ले आये और उसके साथ ब्रह्मा का गान्धर्व विवाह करा कर उसे ब्रह्मा के साथ बैठा कर यज्ञ आरम्भ करा दिया। तभी सावित्री भी आ गई।

उसे अपने स्थान पर अन्य स्त्री को देख कर बडा क्रोध आया, तब ब्रह्मा ने उसे समझा-बुझा कर शान्त करने का प्रयत्न किया। फिर भी उसने शाप दे दिया कि 'अब तुम्हारी पूजा वर्ष भर मे केवल एक दिन कार्तिकी पूर्णिमा पर ही हुआ करेगी।'

शिव पुराण की भी एक ऐसी ही कथा है, जिसमे ब्रह्मा की पूजा वर्जित कर दी गई। जब ब्रह्मा-विष्णु मे कौन बड़ा है ? इस प्रश्न पर दोनो मे विवाद हुआ तो शिवजी ने आकाश से पाताल तक एक स्तम्भ खडा कर दिया और बोले कि जो इसका अन्त देख कर पहिले यहाँ आयेगा, वही बडा माना जायेगा। तब दोनो ही सैकडो दिव्य वर्ष पर्यन्त खोज करते रहे, किन्तु किसी को भी उसका अन्त न मिला। तब विष्णु ने तो लौट कर स्पष्ट कह दिया कि मैं इसका अन्त नही प्राप्त कर सका। किन्तु ब्रह्मा ने अन्त पा लेने की मिथ्या बात कह दी। इस पर शिव विष्णु पर प्रसन्न हुए और ब्रह्मा पर रुष्ट। बोले—"विष्णु ने सत्य बोला इसलिये ससार मे उन्ही की पूजा होगी। तुमने मिथ्या कहा इसलिये तुम्हारी पूजा नही होगी।"

पुराणों मे एक प्रसिद्ध कथा दक्ष-यज्ञ-विध्वस से सम्बन्धित है, जनुसार दक्ष के यहाँ यज्ञ था, उसने अपने जामाता शिव को नहीं बुलाया। शिव-पत्नी सती ने हठ पूर्वक अपने पति से यज्ञ मे जाने की आज्ञा ली और वहाँ गई। किन्तु दक्ष ने उसका सम्मान नही किया और न शिवजी को यज्ञ-भाग ही दिया। यह देख कर अपमानित सती ने आत्म-दाह कर लिया। तब वीरभद्र ने आकर यज्ञ विध्वंस कर दिया। पूरी यज्ञशाला भस्म कर दी, बहुत-से देवता मार दिये तथा विष्णु का भी मस्तक काट डाला। सरस्वती और सावित्री की नाक उखाड ली तथा दक्ष का सिर काट कर यज्ञाग्नि मे होम दिया।

पद्मपुराण की ही एक अन्य विचित्र कथा है—ब्रह्माजी यज्ञ कर रहे थे, शिवजी एक खोपड़ी हाथ मे लिये हुए आये और ऋत्विज के पास

बैठ गये। इस पर याज्ञिकों ने उन्हें तिरस्कार पूर्वक यज्ञशाला से बाहर निकालने का प्रयत्न किया, पर वह न निकले तो उन्हें भोजन कराया और कहा कि हम सब पुष्कर-स्नान को जा रहे हैं। यह सुनकर शिव तो चले गये, किन्तु वहाँ कपाल छोड़ गये। याज्ञिकों ने वह कपाल बाहर फेंक दिया। तभी वहाँ दूसरा कपाल प्रकट हो गया। वह भी फेंका तो तीसरा उत्पन्न हो गया। इस प्रकार एक हजार कपाल फेंके जाने पर भी उनका अन्त नहीं हुआ। तब सबने पुष्कर जाकर शिवजी की स्तुति करते हुए कपाल हटा लेने का निवेदन किया। तब कहीं वह हट सका।

एक मन्वन्तर व्यतीत होने पर ब्रह्माजी ने फिर यज्ञ किया। जिसमें शिवजी फिर आ गये। इस बार भी वे हाथ में उपस्थ लिये नग्न वेश में आये तो सबने पुन: उनका तिरस्कार किया। और घसीट कर बाहर निकाल दिया। तब शिव ने क्रोध में भर कर सभी को शाप-ग्रस्त किया।

इस प्रकार परमात्मा सम्बन्धी परस्पर विरोधी कथाएँ पुराणों आदि में भरी पड़ी हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि हिन्दू धार्मिकों ने उन्हें अपना-अपना पक्ष प्रबल करने के उद्देश्य से गढ़ा और समाज में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैलाईं।

किन्तु हिन्दू सम्प्रदाओं के इन परस्पर मतभेदों ने हिन्दुओं की और हिन्दू धर्म की कुछ कम हानि नहीं की है। शैव-वैष्णवों में प्राय: संघर्ष होते रहे हैं। कांची नगर में जाकर देखिये—एक ओर शिव कांची (शिव काशी) और दूसरी ओर विष्णु कांची बसी है। शिव कांची में शिव-भक्त और विष्णु कांची में विष्णु-भक्त रहते हैं।

कहते हैं कि पहिले इन दोनों में बहुत विवाद होते रहे हैं। भिन्न-भिन्न देवताओं को ही ईश्वर मानने के फलस्वरूप समाज धार्मिक

सम्प्रदायों के रूप में अनेक प्रकार से विभाजित हो गया और खान-पान, भेष-भूषा आदि में भी साम्प्रदायिक चिन्हों के कारण अन्तर दिखाई देने लगा।

किन्तु समाज को बचाने के लिये आवश्यक है कि सभी सम्प्रदाय-वादी विद्वान् सत्य को स्वीकार करें और धर्म में उत्पन्न हुई असमन्वय वाली व्यवस्था में परिवर्तन लायें, जिससे कि सामान्य मनुष्यों के मन से ईश्वर-सम्बन्धी मिथ्या भ्रान्तियाँ दूर हो सकें। इसके लिये हमारा प्रथम कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि हमारे किसी भी कार्य से किसी के मन को ठेस न पहुंचे। अच्छा तो यह है कि कोई सम्प्रदाय वाली किसी का विरोध न करे और सम्प्रदायवाद से ऊपर उठ कर ईश्वर के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करे। सभी को ध्यान रखना चाहिये कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाने वाला ईश्वर एक है, इसलिये हमें एक ही ईश्वर-धर्म का, परमात्म-धर्म का अनुयायी होना चाहिये।

हिन्दू एकता का प्रतीक–ओंकार

ओंकार ही ब्रह्म है–

विगत पृष्ठों पर निवेदन कर चुके हैं कि परमात्मा एक है, अनेक नहीं विभिन्न सम्प्रदाय वालों ने उसे अनेक के रूप प्रस्तुत कर जन सामान्य को भ्रमित करने का ही प्रयत्न किया है। उसके विभिन्न नाम गुण-कर्मानुसार ही रखे गये हैं। उन सब नामों में एक मात्र ओंकार

ही ऐसा नाम है जो सब देवी-देवताओं का प्रतीक है तथा सभी उसमें समाविष्ट हैं। कठोपनिषद् ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है—

एतद् हि एव अक्षर ब्रह्म, एतद् हि अक्षरं परम्।
एतदेव विदित्वा तु, यो यदिच्छति तस्य तत्॥

अर्थात्—'यही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर रूप (कभी भी नष्ट न होने वाला) है। इसी देव को जान लेने पर मनुष्य जो इच्छा करता है, वही प्राप्त कर लेता है।''

भागवत में भी कहा है—

एकः एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्‌मयः।
देवो नारायणो नऽन्यः एकोऽग्नि वर्ण एव च॥

अर्थात्—"प्राचीन काल में सर्व वाङ्‌मय से सम्पन्न प्रणव रूप एक ही परमात्मा जाना जाता था। वही एक देव नारायण है; अन्य नहीं। उस समय एक अग्नि ही शक्ति रूप से पूजी जाती थी तथा विश्व भर में एक ही वर्ण था।

इस प्रकार सब एक ही ईश्वर की आराधना करते थे, इसलिये उनमें वर्ण-भेद भी नहीं था। तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है—'ओमिति ब्रह्म ओमितीद सर्वम्' अर्थात् 'यह ओ३म् ही ब्रह्म है, यह ओ३म् ही सब कुछ है।' इसका तात्पर्य है कि ओंकार से भिन्न कहीं कुछ भी नहीं है।'

इस ओंकार के अनेक नाम हैं ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, लोकस्रष्टा आदि। कोष के अनुसार 'ओंकार: प्रणवः तारः प्रातिभः सर्वविन्मतिः' (ओंकार, प्रणव, तार, प्रातिभ, सर्वविद्) यह सब एकमात्र ओंकार के ही पर्याप्त हैं।

ओम् ही रक्षक है विश्व का, इसीलिये उसे 'अवति इति ओम् कहा गया है। 'अवति' का अर्थ रक्षा करना ही है। इसलिये ओंकार के

अतिरिक्त अन्य कोई भी देवता प्राणिमात्र का रक्षक नही हो सकता। इस प्रकार ओम् ही सब प्रकार से कल्याणकारी है। शास्त्र का वचन है—

> ददाति बुद्धि दूरी करोति दोषान्
> मार्ग प्रकाशयति पुरिष्करोति चित्त।
> योग क्षेमं वहति छिन्दति च पाशान्
> किं किं न साधयति ओंकाराय नमः॥

अर्थात्—"मनुष्यो को बुद्धि प्रदान करता और उनके सब दोषों (पापो) को दूर करता है। मार्ग से अनभिज्ञ व्यक्तियों को मार्ग दिखाता और चित्त को स्वच्छ करता है। अपने साधकों के योग क्षेम का वहन करता तथा ससार-पाश को काट देता है। जो ओंकार क्या-क्या कार्य सिद्ध नही कर सकता ? अर्थात् सभी कार्यों को सिद्ध कर सकता है, उसे नमस्कार है।"

ओंकार ही जन्म मरण से छुड़ाने वाला होने के कारण उपासना के योग्य है। वृहद् योग याज्ञवल्क्य स्मृति मे प्रणव की महिमा का इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है—

> सर्वं दुःख समुत्थानाद् भवग्राहार्णवाकुलात्।
> चिंतितस्तारयेत्तस्मात् तेन तारो निगद्यते॥

अर्थात्—सभी दुःख से उत्थान करने वाला, भवसागर से पार लगाने वाला और चिन्तित मनुष्यो को तारने वाला होने से ओंकार को तारने वाला कहते हैं।"

गोपथ ब्राह्मण का मत है कि 'जो मनुष्य ओंकार के विषय मे अनभिज्ञ है, वह स्वय को दीन-हीन, दुर्बल अवस्था मे डाले रहता है। जो उसे तत्त्व से जान लेता है, वह ब्रह्मवश से—आत्मबल से सम्पन्न हो जाता है।

ओंकार ही वेद स्वरूप है, वही ऋचा, मंत्र और श्लोक रूप है। गोपथ ब्राह्मण का ही मत है—

तस्मादोंकार ऋचि ऋरभवती। यजुषि यजुः। साम्नि साम। सूत्रे सूत्रम्। ब्रह्मणे ब्राह्मणम्। श्लोके श्लोकः। प्रणवे प्रणव इति ब्राह्मण॥

अर्थात्—"ऋग्वेद के अध्ययन में ओंकार ही ऋचा रूप होता है। यजुर्वेद में वही यजुः स्वरूप और सामवेद में वहीं साम स्वरूप है। सूत्र ग्रन्थों में सूत्र स्वरूप ओंकार है। वही सब ब्राह्मण ग्रन्थों एवं समस्त श्लोकों में समाविष्ट है। इस प्रकार सर्वत्र प्रणव ही प्रणव रमा हुआ है।'

वस्तुतः ओंकार ही पूर्ण सत्य है, वहीं पूर्ण काम कहा गया है। उसके दो भेद है—पर और अपर। वह निद्रा, प्रमाद, जरा, मृत्यु आदि से रहित तथा अजन्मा है। सभी देहधारियों की उसी से उत्पत्ति होती है। सबका सारभूत एक मात्र वही है।

ब्रह्म के मूर्त्त-अमूर्त्त रूप—

ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं सगुण और निर्गुण। सगुण रूप वह है जो प्रत्यक्ष देखा जा सके। किन्तु निर्गुण रूप को कोई नहीं देख सकता। मूर्त्त रूप स्फुरणशील है, अमूर्त्त रूप नितान्त शान्त। किन्तु उपनिषत्कारों की मान्यता है कि अमूर्त्त रूप ही परम सत्य है।

ओंकार लिंग-रहित है, किन्तु यदि वह व्यक्त होता है तब स्त्री, पुरुष, नपुंसक—इसी के लिंग होते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान—यह तीनों काल भी उसी के हैं। प्राण, अग्नि और आदित्य इन तीनों का अस्तित्व भी ओंकार से ही बना हुआ है। क्योंकि मनुष्यों—प्राणियों में प्राण रूप से वही विद्यमान है, अग्नि और सूर्य में जो ज्योति है वह उसी की है। ओंकार की तीन मात्रा—अकार, उकार, मकार में ही सब कुछ ओत-प्रोत है।

ओंकार ही शुद्ध तत्व है, वही अखिल वाङ्मय रूप, वही समस्त अक्षर स्वरूप है। उसी के द्वारा मोहित हुए सब प्राणी अपने-अपने कर्मों मे लगे रहते हैं।

शास्त्रकारो ने परब्रह्म परमात्मा का उपदेश 'ॐ तत् सत्' नाम से किया है। तात्पर्य यह है कि ओंकार ही तत् है, वही सत् है। उसी से ब्राह्मण, वेद और यज्ञ की त्रिपुटी उत्पन्न हुई है।

ओंकार से ही यह समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई। यह सम्पूर्ण विश्व ओंकार का ही प्रत्यक्ष रूप है। वही सृष्टि का पालन पोषण करने वाला है तथा यही प्रलयकर्त्ता है।

यज्ञ, दान, तपश्चर्या आदि सभी कर्मों का आरम्भ ओंकार के द्वारा ही होता है। क्योकि एक मात्र ओंकार ही सब कर्मों का प्रेरक होने के कारण उनका फल भी देने वाला है।

वही पुष्टि स्वरूप है। प्राणियो मे जो पुष्टि विद्यमान है वह ओंकार की ही है। जीवन भी ओंकार से ही है, जब मनुष्य का मरण-काल होता है तब उसके शरीर से ओंकार ही निकल जाता है। उसके निकलते पर ही मनुष्य को मरा हुआ कहते हैं। जब तक ओंकार रूप आत्मा रहता है, शरीर भी नही मरता।

ओंकार सभी दुर्भाग्यो को दूर करता है। जब वह प्रसन्न होता है तब सौभाग्य देता है और रुष्ट होता है तब सौभाग्य का हरण करके दुर्भाग्य दे देता है। विश्व की समस्त क्रिया-प्रक्रियाएँ एक-मात्र उसी ओंकार पर निर्भर है।

ससार मे विख्यात, मनुष्यो के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को देने वाला वही है। ओंकार सिद्धो को अणि आदि अष्ट सिद्धियो का कारण होता है। योगियो को ध्यान और समाधि आदि की प्राप्ति का ध्येय भी ओंकार ही है।

ओंकार ही सब रोगों को, सब दुःखों को, हरण करने वाला है। समस्त कर्मों की प्राप्ति भी उसी के द्वारा होती है। स्त्री, पुत्रादि की कामना-पूर्ति भी ओंकार ही करता है। वही यश और विजय में कारण है। स्त्री, पुत्र, धन आदि की प्राप्ति भी उसी के अनुग्रह से होती है। ओंकार ही प्रतिष्ठा प्रदान करने में समर्थ है। उसी के वरदान से जीव मात्र सुखी रहते हैं।

ओंकार ही अक्षर ब्रह्म है, नाद भी उसी का स्वरूप है, सभी यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र ओंकार पर आधारित है। ओंकार के बिना कभी कोई अनुष्ठान सिद्ध नहीं होता। व्रतोपवास आदि कर्मों का सम्बन्ध भी एक मात्र ओंकार से ही है।

उसी के द्वारा अज्ञानियों को ज्ञान होता है। बुद्धिहीनों को बुद्धि भी वही देता है। भोग चाहने वालों को भोग तथा मुमुक्षुओं को मोक्ष की प्राप्ति भी ओंकार-साधना से ही होती है। इस प्रकार सभी गतियों में ओंकार ही अन्तिम गति होता है।

संसार में जितनी भी शक्तियाँ हैं सभी ओंकार में निहित हैं। जिस व्यक्ति को जिस प्रकार की शक्ति अपेक्षित हो, वह उसी से प्राप्त कर सकता है। क्योंकि हम उसी के अनुग्रह से शक्तिशाली हो सकते हैं।

ओंकार पापियों और दुष्टों के लिये भयंकर रूप वाला प्रतीत होता है। क्योंकि अनाचारियों के लिये वही रौद्र रूप धारण कर लेता है। किन्तु सज्जनों के लिये वह अत्यन्त सौम्य और सभी प्रकार के अभिचारों, कष्टों को दूर करने वाला सिद्ध होता है।

भूत-प्रेत आदि बाधाएँ ओंकार नाम से ही भाग जाती हैं। वही युग-युग में विभिन्न अवतारों के रूप में प्रकट होकर दुष्टों और राक्षसों का संहार तथा सज्जनों की रक्षा करता है। उसकी महिमा अपार है, जिसका भेद कोई नहीं पा सकता।

तीन विशिष्ट शक्तियाँ–

संसार भर मे तीन विशिष्ट शक्तियों का महत्व स्वीकार किया जाता है। वे विशिष्ट शक्तियां हैं—वैद्युतीय, तामसी और निर्गुणी। वस्तुतः यह तीनों ओंकार की ही तीन मात्राएँ हैं। वायु पुराण मे लिखा है—

प्रथमा वैद्युती मात्रा द्वितीया तामसी स्मृता।
तृतीया निर्गुणी विद्यान्मात्रामक्षरगामिनीम् ॥

अर्थात्—"ओंकार की प्रथम मात्रा (अकार) वैद्युतीय है, दूसरी मात्रा (उकार) तामसी और तीसरी मात्रा (मकार) निर्गुणी है। इस प्रकार अक्षरो मे गमन करने वाली मात्राओं का ज्ञान सम्पादन करना आवश्यक है।

तीन अन्य शक्तियां भी प्रसिद्ध हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्ति। यह तीनो भी ओंकार के ही अधीन हैं। ओंकार के द्वारा ही इनकी उत्पत्ति और गति होती है। यह शक्तियां सभी मनुष्यों मे स्वतः विद्यमान रहती हैं, किन्तु दुर्बल अवस्था मे। जो लोग इन शक्तियो को अपनी इच्छानुसार प्रयुक्त करना चाहे, उन्हे ओंकार की ही उपासना करनी चाहिये।

प्राणियो मे जो जीवनी शक्ति विद्यमान है, वह ओंकार की ही है। नेत्र तन्त्र का कहना है कि—

प्रणवः प्राणीनां प्राणो जीवन सम्प्रतिष्ठितम्।
गृहणाति प्रणव. सर्व कलाभिः कलयेच्छिवम् ॥

अर्थात्—"प्रणव ही समस्त प्राणियो में प्राण रूप से विद्यमान है, वही जीवन रूप मे प्रतिष्ठित है। समस्त कलाएँ भी प्रणव के द्वारा ही भले प्रकार से ग्रहण की जा सकती है।"

प्रणव मे बारह कलाएँ मानी जाती है—अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, कुण्डलिनी, व्यापिनी, शक्ति, समान

और उन्मना। पृथिवी से शिव पर्यन्त समस्त ब्रह्माण्ड का संचालन इन्हीं कलाओं के द्वारा होता है।

अकार की गति अँगूठे से हृदय पर्यन्त है। वह ब्रह्म, दैवत्य, सद्योजात स्वरूप अकार अपनी आठ कलाओं से संयुक्त रह कर समस्त विश्व में व्याप्त रहता है। सिद्धि, ऋद्धि, द्युति, लक्ष्मी, मेधा, कान्ति, धृति और स्वधा—यह नाम हैं उन आठ कलाओं के। यही कलाएँ पृथिवी से महत्तत्व पर्यन्त व्याप्त रहती हुई संसार का संचालन स्वेच्छापूर्वक करती रहती हैं।

उकार की वैष्णव अंश में व्याप्य तेरह वाम कलाएँ मानी गई हैं। उनके नाम हैं—रजा, रक्षा, रति, पाल्या, तृष्णा, काम्या, मति, वृद्धि, क्रिया, माया, नाड़ी, भ्रामणी और मोहिनी। इनकी स्थिति हृदय देश से कण्ठ पर्यन्त कही गई है।

मकार की आठ अघोर कलाएँ हैं—तमा, मोहा, क्षुधा, निद्रा, जरा, मृत्यु, भया और माया। यह कण्ठ से तालु पर्यन्त विद्यमान रहने वाली हैं।

ओंकार रूप तत्पुरुष की चार कलाएँ कही हैं—प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और निवृत्ति। इनका स्थान भौंहों के मध्य में है—और यह बिन्दु रूप में परमात्म तत्व में प्रतिष्ठित रहती हैं।

ईशान प्रणव की पाँच कलाएँ प्रसिद्ध हैं—तारा, सुतारा, तरणी, तारयन्ती और सुतारणी। इन पाँचों का का सम्बन्ध सदैव शिवरूप नाद से रहता है। यह उससे कभी विलग नहीं रहतीं।

नाद कलाएँ मुख्य रूप से चार मानी जाती हैं—इन्धिका, दीपिका, रोचिका और मोचिका। नादान्त की एक ही कला है, जिसे ऊर्ध्वगा कहते हैं, क्योंकि इसकी गति सदैव ऊपर की ओर रहती है।

अर्धचन्द्र की पाँच कलाएँ हैं—ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, सुप्रभा, विमला और शिवा। इसी प्रकार निरोधिका कलाएँ भी पाँच ही हैं—सन्धनी, रोधिनी, रौद्री, ज्ञानबोधा और तमोपहा।

पाँच शक्ति कलाएँ हैं—सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता, अमृतसम्भवा और व्यापिनी। समना की छः कलाएँ हैं—सर्वज्ञा, सर्वगा, सवना, दुर्गा, धृति और स्पृहणा—यह सभी कलाएँ अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त हैं।

इस प्रकार ओंकार में ही समस्त चौंसठ कलाएँ निहित हैं। इससे यह समझा जा सकता है कि कलात्मक अखिल ब्रह्माण्ड का आविर्भाव ओंकार से ही हुआ है। वस्तुत. विश्व में जहाँ जो कुछ भी है, सभी ओंकार में समाया हुआ है। विश्व के कण-कण में एक-मात्र ओंकार ही व्याप्त है। वह सभी का प्रेरक और नियन्ता होता हुआ भी सभी से परे है।

ओंकार अनादि परमात्मा है। मन्त्रज्ञों ने उसे मन्त्रराज माना है। क्योंकि ओंकार ही सब मन्त्रों का बीजभूत है। जैसे बीज में समस्त वृक्ष समाविष्ट रहता है, वैसे ही ओंकार में समस्त ब्रह्माण्ड समाविष्ट है। मन्त्रों में बड़ी शक्ति होती है, किन्तु वे मन्त्र समुद्र के समान दुस्तर होते हैं। उन मन्त्रों की सिद्धि सहज में नहीं हो पाती, किन्तु ओंकार के द्वारा मन्त्र-सिद्धि भी सहज सम्भव है।

मात्राओं में असाधारण सामर्थ्य–

ओंकार की तीन मात्राएँ हैं—अकार, उकार, मकार। तीनों में ही असाधारण सामर्थ्य है। इनमें भी अकार सर्व व्यापक तथा स्वर रूप है। व्यंजनों में भी प्राण रूप से यही विद्यमान रहता है। यह स्थूल भी है, सूक्ष्म भी है तथा परब्रह्म का व्यक्त-अव्यक्त रूप है। वही वैखरी वाणी

है, पर अनाहत रूप में वही परा-पश्यन्ती रूप हो जाता है। अकार से अव्यय और अविनाशी होने का बोध होता है।

ओंकार की दूसरी मात्रा 'उकार' मध्य अक्षर है। स्वरों में भी 'उ' मध्यवर्ती ही होता है। 'उ' के बिना न तो सृष्टि उत्पन्न होती है, न स्वर में उत्कर्ष आता है। व्यंजनों में 'उ' से भाषा की शोभा भी होती है और यथार्थ की प्राप्ति भी।

उकार की समस्त नाम–रूपों का उद्‌गम स्थान है, वही समस्त ऐश्वर्यों की सिद्धि करने वाला है। उकार के बिना संसार की स्थिति भी नहीं रह सकती।

ओंकार की तीसरी मात्रा 'मकार' माया का सूचक है। माया परमात्मा की महती आदि शक्ति होने के कारण सर्वोपरि है। इसी को मूला शक्ति और पराविद्या भी कहते हैं। यह अक्षर 'प' वर्ग का अंतिम व्यंजन है और 'मोऽनुस्वारः' सूत्र के अनुसार 'म' अनुस्वार का रूप ले लेता है। अनुस्वार का रूप लेते ही वह सब अक्षरों में शीर्ष स्थान प्राप्त करता है। क्योंकि तन्त्रशास्त्रों के अनुसार अनुस्वार ही विन्दु रूप धारण करता है।

सभी वीज मन्त्र अनुस्वार अर्थात् वीज युक्त ही होते हैं। तान्त्रिक मन्त्रों में मकार-विन्दु ही बिन्दु रूप या वीज रूप से प्रयुक्त हुआ है। इसीलिये तान्त्रिक साधनाओं में मकार-बिन्दु को प्रधानता दी गई है।

इस प्रकार अकार, उकार और मकार के संयोग से व्यक्त होने वाला ओंकार ही परिपूर्ण ब्रह्म है। वही उपेक्षा होने पर ओंकार रूप से व्यक्त होता है और वही प्रलय काल में अव्यक्त हो जाता है। जब व्यक्त होता है तब इसकी उपासना सगुण ब्रह्म के रूप में और अव्यक्त होता है निर्गुण ब्रह्म के रूप में स्वतः होती रहती है।

निर्गुण ब्रह्म के उपासकों के लिये ओंकार उपासना सर्वांगीण है। सगुण ब्रह्म के उपासकों के लिये भी इसी का अत्यन्त महत्व है। क्योंकि इसी मे समस्त देवी-देवताओ का अन्तर्भाव है। इसलिये एक-मात्र ओंकार की उपासना मे ही समस्त उपासनाएँ निहित हैं। एक ओंकार से ही परमात्मा के समस्त नाम रूपो की उपासना सिद्धि हो जाती है।

अकार का दोहन ऋग्वेद से, उकार का यजुर्वेद से और मकार का सामवेद से हुआ। तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद की उत्पत्ति अकार से, यजुर्वेद की उकार से और सामवेद की मकार से हुई।

ओंकार की उपासना जन्म-मरण मे उबारने वाली है। उससे मृत्यु-भय दूर हो जाता है। एक बार देवगण मृत्यु के भय से व्याकुल हो रहे थे, और उससे बचने के लिये वेदो मे जा छिपे, जिससे वेदमन्त्रों ने उन्हे ढँक लिया। किन्तु वहाँ भी मृत्यु की दृष्टि उन पर पड ही गई। देवताओं को पता चल गया कि यहाँ भी मृत्यु ने हमे देख लिया है। तब वे वेदो को छोड़ कर ओंकार के आश्रम मे आये—वे ओंकार मे प्रविष्ट हो गये। तब मृत्यु की वहाँ पहुँच न हो सकी।

छान्दोग्य उपनिषद् का एक प्रसग है कि कौषीतकि ऋषि के पुत्र को कोई सन्तान नही हुई। उसने अपने पिता से उपाय पूछा तो वे बोले—'पुत्र ! मैंने इस सूर्य का ध्यान करके ही तुझे पाया था। तू भी सूर्य-रश्मियो का ध्यान करेगा तो अनेक पुत्र प्राप्त कर लेगा।' छान्दोग्य के उक्त श्लोक मे ही सूर्य को प्रणव कहा है। इससे स्पष्ट है कि ओंकार-साधना से सतान-प्राप्ति सम्भव है। योगचूडामण्युपनिषद् के अनुसार—

इच्छा क्रिया तथा ज्ञान ब्राह्नी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा मात्रा स्थितिर्यत्र तत् परज्योतिरोमति ॥

अर्थात्—"इच्छा, क्रिया, ज्ञान स्वरूपा ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी रूप ये तीन मात्राएँ परमज्योति स्वरूप ओंकार में विद्यमान हैं।" अमृतनादोपनिषद् के अनुसार—

ओंकार रथमारुह्य विष्णुं कृत्वाऽथ सारथिम्।
ब्रह्मलोक पदान्वेषी रुद्राराधन तत्परः।
तावद् रथेन गन्तव्यं यावद् रथपथि स्थितः॥

अर्थात्—"ओंकार रूपी रथ में बैठ कर भगवान् विष्णु को सारथि बनावें और ब्रह्मलोक के यथार्थ पद का अन्वेषण करते हुए भगवान् रुद्र की उपासना करे। उस रथ के द्वारा तब तक यात्रा करता रहे, जब तक अभीष्ट पूरा न हो जाय।"

ओंकार ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव रूप से सर्ग, स्थिति और प्रलय का कारण होता है। प्रणवोपनिषद् में कहा है—

तस्त्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः।
तिस्रो मात्रार्द्ध मात्रा च प्रत्यक्षस्य शिवस्य तत्॥

अर्थात्—"ओंकार में तीनों देवता, तीनों लोक, तीनों वेद और तीनों अग्नियाँ है। साथ ही उसमें तीनों मात्राएँ और अर्धमात्रा भी है। क्योंकि वह उस शिवतत्व का ही स्वरूप है।'

इसीलिये प्रश्नोपनिषद् में स्पष्ट घोषणा मिलती है—

तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्।
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परंचेति॥

अर्थात्—"जो विद्वाद् ओंकार का आश्रय ले लेता है, उसे उस शान्त, अजर, अमर अभयप्रद और परम व्यापक परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।"

वस्तुतः 'ओम्' किसी भाषा विशेष का शब्द नही है। कुछ लोग उसे संस्कृत भाषा का शब्द इसलिये समझते हैं कि संस्कृतज्ञो ने उसे अपना लिया है। यह तो सार्वभौमिक शब्द है जिसे केवल हिन्दू-संस्कृति का ही नहीं विश्वभर का मान्य शब्द समझना चाहिये। क्योंकि मुस्लिम धर्मावलम्बी नमाज मे जिस 'आमीन' शब्द का प्रयोग करते हैं, वह ओम् का ही रूपान्तरण है। ईसाई भी प्रार्थना के अन्त मे 'अमेन' कहते है, उससे भी ओम् की ही सिद्धि होती है। स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती का कहना है कि "यह प्रणव कोई बाहर से आई वस्तु नही है। समस्त आकृतियां ओंकार से ही बनी हैं। अपने शरीर मे देखो, दोनो भौंहों और नासिकाओ को मिला कर 'अका' बन जाता है। भ्रूमध्य से ब्रह्मरन्ध्र तक 'उ' की मात्रा, ब्रह्मरन्ध्र बिन्दु और अमात्र तो परिपूर्ण है। इसमे यदि स्पष्टता न दीखे तो दोनो हाथ और वक्ष मिल कर अकार कण्ठ, उकार मात्रा और सिर बिन्दु यह स्पष्ट है। इसी प्रकार दोनों पांव और कटि से ऊपर का भाग मिल कर भी ओंकार की आकृति बन जाती है।"

स्वामी दयानन्दजी के मत मे "ईश्वर के जितने भी नाम हैं, उनमे से केवल ओंकार सब से उत्तम नाम है।" गुरु नानक देवजी ने भी इसी का उपदेश करते हुए कहा है—"ओंकार शब्द जप रे ओंकार गुरुमुख तेरे।"

इस प्रकार ओंकार को सभी धर्मावलम्बियो ने ईश्वर रूप तथा सर्वश्रेष्ठ नाम मानते हुए ओम् की प्रशसा की है। इसलिये ओंकार ही हिन्दुओ मे एकता स्थापित करने वाला तथा हिन्दू एकता का प्रतीक हो सकता है।

एकता का व्यावहारिक उपाय–

पिछले अध्याय में हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि हिन्दू जाति की एकता के लिए बहुदेवता का सिद्धान्त व्यावहारिक रूप में असफल रहा है और भावनात्मक एकता को अपार क्षति पहुँची है जिसकी पूर्ति अभी तक नहीं हो पा रही है। यह निश्चित है कि यदि प्रत्येक प्रसिद्ध देवी-देवता के नाम से उनकी विशिष्ठ उपासना के प्रसार के लिए पुराण की रचना न होती तो हिन्दू एकतावद्ध रह कर एक सुदृढ़ जाति के रूप में स्थिर रहते। बहु देवतावाद ने भावनाओं में ऐसा बिखराव उत्पन्न कर दिया जिससे अनेकता का जन्म हुआ और यह खाई निरंतर विस्तृत होती गई। पुराणों से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि शैवों ने वैष्णवों का और वैष्णवों ने शैवों का खुलकर विरोध किया। इस विरोध ने कभी-कभी संघर्ष का रूप भी ले लिया। जिस जाति की धार्मिक मान्यताओं में सामञ्जस्य न हो पाया हो, उनमें एकता की आशा नहीं की जा सकती क्योंकि पूजा-उपासना के लिए वह स्थान पर कभी एकत्रित होकर समाज की व्यक्तिगत और सामूहिक समस्याओं पर कभी विचार भी नहीं कर सकते।

व्यावहारिक रूप में हम देखते हैं कि भगवान राम, कृष्ण, शिव, हनुमान, दुर्गा, गायत्री व लक्ष्मी नारायण आदि देवी-देवताओं के अलग-अलग मन्दिर बने हुए हैं। यह सभी देव, देवता और अवतार हमारे लिए पूज्य हैं, परन्तु हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी धार्मिक मान्यता के अनुसार ही उपासना स्थल में जाएगा। वह दूसरे देवता के समक्ष सर झुकाने में भी संकोच करेगा। जब तुलसीदास जैसे उच्च आध्यात्मिक स्थिति के संत भी कृष्ण को राम-रूप में देखकर ही मस्तक झुकाने की बात कहते हैं तो जनसाधारण से कैसे आशा करें कि वे अपने

इष्ट देवता को छोड कर अन्य को स्वीकार करेगे । यह अनेकता-एकता के रूप मे तभी रूपान्तरित हो सकती है जब साम्प्रदायिक मतभेदों को उभारने वाली बहुदेवता वाद की इस उपासना पद्धति के स्थान पर ऐकेश्वरवाद की नीति को अपनाया जाए । इतिहास साक्षी है कि जिन जातियो की उपासना पद्धति मे एकरूपता है और उनमे आध्यात्मिक निर्देशन के लिए एक ही पुस्तक नियत है, उनके जन्म को २ हजार वर्षो से अधिक नही हुए हैं, फिर भी वे सारे संसार मे फैलती जा रही है । सृष्टि के आदि से चली आ रही हिन्दु जाति मे भावनात्मक बिखराव के कारण निरंतर कमी आती चली जा रही है । यदि इस बिखराव का समय रहते रोका न गया तो कभी संसार की एक मात्र मानी जाने वाली जाति का नाम-निशान भी इतिहास के पृष्ठों से मिट जायगा ।

जातिगत एकता धर्म के आधार पर हुई है और हो सकती है । यदि हम यह चाहे कि अन्य धर्मों की तरह खतरे का बिगुल बजाकर विभिन्न मत-मतान्तरो के पारस्परिक मतभेदो को भुलाकर एक हो जाए तो यह कोरी कल्पना ही होगी । यह तभी सम्भव है जब समग्र हिन्दु जाति की उपासना पद्धति एक हो । ओंकारोपासना के अतिरिक्त किसी भी उपासना पद्धति से एक-रूपता नही आ सकती । ओंकार ही एक ऐसा मन्त्र है जो समस्त हिन्दू जाति का प्रतीक है । इस पर किसी भी हिन्दू को कोई आपत्ति नही हो सकती । वास्तव मे अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी देवी-देवता को मानने वाला भक्त ओंकार को अवश्य मानता है क्योकि सभी मन्त्रों मे सर्व प्रथम ओंकार का उच्चारण आवश्यक है । प्राय: देवी-देवताओं के अधिकाश चित्रों मे "ॐ" का समावेश रहता है । योगी जनो का विश्वास है कि ओंकार की साधना से वे सभी सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं जो किसी भी अन्य मन्त्र से विकसित होती हैं । शक्ति विकास की दृष्टि से "ॐ" की कोई तुलना नही है । मानसिक शान्ति और तनाव-नाश के लिए यह श्रेष्ठतम् मन्त्र है । भौतिक और आध्यात्मिक दोनो

दृष्टियों से यह पूर्ण मन्त्र है। यह सम्पूर्ण हिन्दू धर्म का प्रतीक है। इसे अपना कर हम विश्व शान्ति और एकता का उद्घोष करने वाली इस जाति की धार्मिक और भावनात्मक एकरूपता बनाए रखने में सहयोग दे सकते हैं। इस धार्मिक एकता से ही खण्ड-खण्ड में बिखरी हिन्दू-जाति को एकता के सूत्र में बाँधने के स्वप्नों को साकार रूप दिया जाना सम्भव है। यदि इस मूल शक्ति की उपेक्षा की गई तो विश्वास करना चाहिए कि इस दिशा में किए जा रहे अन्य प्रयत्न अधूरे ही रहेंगे। अन्य साधनों के साथ घर-घर में ओंकार का व्यापक प्रचार ही निश्चित उपाय है।

॥ समाप्त ॥

विश्व ओंकार परिवार की स्थापना

★

ॐ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ व स्वाभाविक नाम है। इसे मन्त्र शिरोमणि मन्त्र सम्राट, मन्त्र राज, बीजमन्त्र और मन्त्रो का सेतु आदि उपाधियो विभूषित किया जाता है। इसे श्रेष्ठतम् महानतम् और पवित्रतम् मन्त्र क संज्ञा भी दी जाती है। सारे विश्व मे इसकी तुलना का कोई मन्त्र नही है ॐ सभी मन्त्रो को अपनी शक्ति से प्रभावित करता है। सभी मन्त्रों की शक्ति ओंकार की ही शक्ति है। यह शक्ति और सिद्धिदाता है। भौतिक व आत्मिक उत्थान के लिए कोई भी दूसरी श्रेष्ठ व सरल साधना नही है।

सभी ऋषिमुनि ॐ की शक्ति और साधना से ही अपना आत्मिक उत्थान करते रहे हैं। परन्तु आज आश्चर्य है कि ॐ का अन्य मन्त्रो की तरह व्यापक प्रचार नही है। इस कमी का अनुभव करते हुए विश्व ओंकार परिवार की स्थापना की गई है। आप भी अपने यहाँ इसका प्रचार केन्द्र स्थापित करें। शाखा स्थापना का सारा साहित्य नि शुल्क रूप प्रधान कार्यालय, बरेली से मँगवा लें, आपको केवल इतना करना है कि स्व ओंकारोपासना आरम्भ करके ४ अन्य मित्रो व सम्बन्धियो को प्रेरित क और सभी संकल्प पत्र व शाखा स्थापना का प्रार्थना पत्र प्रधान कार्यालय भिजवा दें। इस वर्ष २७००० साधको द्वारा ६०० करोड मन्त्रो के जप महापुरश्चरण पूर्ण किया जाना है। आशा है ओंकार को जन-जन का म बनाने के इस श्रेष्ठतम् आध्यात्मिक महायज्ञ मे सम्मिलित होकर महान् पुण्य भागी बनेंगे।

विनीत:—

संस्कृति संस्थान **चमनलाल गौत**

ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली–२४३००३ (उ.प्र.)

एक मौन व्यक्तित्व का मौन समर्पण

डा० चमनलाल गौतम—एक व्यक्ति का नहीं वरन् ऐसे विशाल धार्मिक संस्थान का नाम है जो सतत् २४ वर्षों से ऋषि प्रणीत आर्ष साहित्य के शोध, प्रकाशन और व्यापक साहित्य प्रचार का कार्य देश विदेश में करता रहा है। यह उनकी तप साधना का ही परिणाम है कि किसी भी आर्थिक सहयोग के बिना वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ, पुराण व मन्त्र-तन्त्र आदि साधनात्मक साहित्य की ३०० से अधिक पुस्तकों को प्रकाशित करके घर-घर में पहुँचाने की पवित्रतम साधना कर रहें है। मन्त्र-तन्त्र, योग, वेदान्त व अन्य धार्मिक विषयों पर १५० खोज पूर्ण ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन एक ऐसा अविस्मरणीय व असाधारण कार्य है जिस पर उनके अथक श्रम, गम्भीर अध्ययन तप, प्रतिभ और मौलिका सूझ-बूझ की स्पष्ट छाप दिखाई देती हैं। स्वस्थ साहित्य की रचना और प्रचार का उनकी जीवन योजना का यह पहला चरण पूरा हुआ।

पिछले २४ वर्षों से लगातार चल रही आध्यात्मिक साधना के महा-पुश्चरण का दूसरा चरण भी समाप्त हो रहा है। तीसरे चरण आध्यात्मिक साधनाओं और अनुभूतियों के विश्वव्यापी विस्तार का शुभारम्भ विश्व ओंकार परिवार की स्थापना के साथ वसन्तपञ्चमी की परम पवित्र वेला के साथ हो गया है। अतः उनका शेष जीवन तीसरे चरण की सफलता, ओंकार साधना में प्रविष्ट करके उच्च आध्यामिक भूमिका में प्रशस्त करना ओंकार अथवा उच्च आध्यात्मिक साहित्य की रचना व प्रचार-प्रसार को समर्पित है।

—स्वामी सत्य भक्त